ISBN: 978-93-92568-05-3

समाजशास्त्र
एक परिचय

डॉ. अहिल्या तिवारी

समाजशास्त्र - एक परिचय

लेखक
डॉ. अहिल्या तिवारी
पी.एच–डी. (समाजशास्त्र)
रायपुर, छत्तीसगढ़, भारत

Publisher
Aditi Publication, Raipur, Chhattisgarh, INDIA

समाजशास्त्र – एक परिचय

2022
Edition - **01**

लेखक
डॉ. अहिल्या तिवारी
रायपुर, छत्तीसगढ़, भारत

ISBN : **978-93-92568-05-3**

Copyright© All Rights Reserved
No parts of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted, in any form or by any means, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without prior written permission of original publisher.

Price : Rs. **299/-**

Publisher & Printed by :
Aditi Publication,
Opp. New Panchajanya vidya Mandir, Near Tiranga Chowk,
Kushalpur, Raipur, Chhattisgarh, INDIA
+91 9425210308

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक **"समाजशास्त्र – एक परिचय"** समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को ध्यान में रख कर लिखी गई है। समाजशास्त्र के स्नातक एवं स्नातकोत्तर के छात्रों के लिए यह पुस्तक उनके पाठ्यक्रम में शामिल विषय–वस्तु के अध्ययन एवं प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी में उपयोगी होगी।

इस पुस्तक में समाजशास्त्र की सभी अवधारणाओं का वर्णन किया गया है। भारतीय समाज को गहराई से समझने के लिए समाजशास्त्र की सभी अवधारणाओं को समझना आवश्यक है। इन्हीं अवधारणाओं का परिचय इस पुस्तक में कराया गया है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज, समुदाय, संस्था, समिति, समूह, प्रस्थिति एवं भूमिका को जानना जितना आवश्यक माना गया है, उतना ही आवश्यक संस्कृति, सामाजिकरण, मानदंड एवं मूल्य, सामाजिक स्तरीकरण तथा सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन करना भी है। समाज में परिवर्तन किस प्रकार आता है, समाज की व्यवस्था क्या है एवं सामाजिक प्रक्रिया समाज में क्या भूमिका निभाती है, इन सभी अवधारणाओं का इस पुस्तक में वर्णन किया गया है।

सभी पाठकों की आवश्यकता एवं सुविधा को वर्तमान समय में पूरा करना कठिन कार्य है। विशेषकर हिन्दी भाषा की पुस्तक का लेखन करना। सभी बातों को ध्यान में रखते हुए पुस्तक की भाषा सरल एवं पठनीय बनाने का प्रयास लेखक के द्वारा किया गया है। अत्यधिक क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। मुझे पूरी उम्मीद है कि यह पुस्तक छात्रों एवं प्राध्यापकों द्वारा पसंद की जाएगी एवं उपयोगी सिद्ध होगी।

डॉ. अहिल्या तिवारी

अनुक्रमणिका

क्रमांक	अध्याय	पृष्ठ क्रमांक
01	**इकाई 1** समाजशास्त्र समाज समुदाय संस्था समिति सामाजिक समूह प्रस्थिति और भूमिका	01–90
02	**इकाई 2** विवाह परिवार नातेदारी संस्कृति सामाजिकरण सामाजिक नियंत्रण प्रतिमान और मूल्य	91–193
03	**इकाई 3** सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक गतिशीलता	194–209
04	**इकाई 4** सामाजिक परिवर्तन	210–226

05	**इकाई 5** सामाजिक व्यवस्था सामाजिक प्रक्रिया	227–241
	संदर्भ–ग्रंथ सूची	242–243

इकाई 1

समाजशास्त्र
समाज
समुदाय
संस्था
समिति
सामाजिक समूह
प्रस्थिति और भूमिका

समाजशास्त्र

भूमिका

समाजशास्त्र एक नया अनुशासन है, एक नया विज्ञान है, जिसका उद्देश्य मानव समाज की सामाजिक संरचना का अध्ययन करना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जिसका संपूर्ण जीवन समाज में रह कर ही व्यतीत होता है। जब मानव समाज के भीतर ही क्रियाशील रहता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि समाज का अधययन गहराई से किया जाये। समाजशास्त्र मानव समाज का ही अध्ययन करता है। यह सामाजिक विज्ञान की ही एक शाखा है, जो मानवीय सामाजिक संरचना और गतिविधियों से संबंधित जानकारी प्रदान करती है। समाजशास्त्र मानव समाज का अध्ययन होने के कारण समाज के सभी पक्षों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है। समाज एक विशाल अवधारणा है, जिसका विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। अध्ययन के साथ ही यह एक शोध विषय है भी है। पद्धति एवं विषयवस्तु दोनों के क्षेत्र में समाजशास्त्र एक विस्तृत विषय है। समाज के जितने भी इकाई, संस्थाएं, समूह, समिति, वर्ग, धर्म, संस्कृति, और सामाजिक सम्बन्ध है, सभी विज्ञान के कसौटी पर खरे उतरते हैं। परंपरागत रूप से भी और वैज्ञानिक रूप से भी समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान के सभी आयामों से संबंधित है। इसलिए इसकी समस्याओं और विशेषताओं का वैज्ञानिक एवं तार्किक रूप से अध्ययन किया जा सकता है।

समाजशास्त्र का अर्थ

समाजशास्त्र शब्द लैटिन भाषा के सोशियस और ग्रीक भाषा के लोगस शब्द से मिलकर बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है समाज का विज्ञान या समाज का अध्ययन। दूसरे शब्दों में कहें तो समाजशास्त्र शब्द अंग्रेजी के सोशियोलॉजी शब्द का रूपांतरण है। अंग्रेजी के दो शब्द सोशिओ और लॉजी से मिलकर बना है। सोशिओ का अर्थ है समाज से संबंधित और लॉजी का अर्थ है ज्ञान अथवा विज्ञान। इस प्रकार समाजशास्त्र

समाज का अध्ययन करने वाला विज्ञान, सामाजिक सम्बन्धो का अध्ययन करने वाला विज्ञान, सामाजिक अन्तः सम्बन्धों या सामाजिक समूहों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। समाजशास्त्र व्यक्ति और समाज के वैयक्तिक, सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या करता है, उनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करता है। अतः कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। यह एक ऐसा विषय है, जिसमें मानव समाज के विभिन्न स्वरुप, संरचना एवं प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध तरीके से अध्ययन किया जाता है।

समाजशास्त्र कि परिभाषा

अन्य विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है। अतः इसे विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने–अपने विचारों से परिभाषित करने का प्रयास किया है

ओडम के अनुसार, ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।''

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों के विषय में है, संबंधों के इस जाल को हम समाज कहते हैं।''

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, ''समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन तथा उससे संबंधित सांस्कृतिक, प्राकृतिक, पर्यावरण, वंशानुक्रमण, और समूह विषयक कारकों के अध्ययन से संबंधित है।''

रोज के अनुसार, ''समाजशास्त्र मानव सम्बन्धों का विज्ञान है।''

मैक्स वेबर के अनुसार, ''सामाजिक क्रियाओं का विवेचनात्मक बोध कराने का प्रयत्न करने वाला विज्ञान समाजशास्त्र है।''

गिडिंग्स के अनुसार, ''समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र समाज का एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन करने वाला विज्ञान है। समाजशास्त्र

व्यक्ति और समाज के वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, संबंधों कि व्याख्या करता है। समाजशास्त्र सामाजिक जीवन और कार्य–कलापों का वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार कि समस्याएं होती हैं, जिनका सम्बन्ध भूत, भविष्य, तथा वर्तमान तीनों के जीवन से होता है।

समाजशास्त्र की उत्पत्ति और विकास

मानव प्रकृति का सबसे अनोखा उपहार है और मानव का सबसे अनोखा महाकाव्य स्वयं समाज है। इस समाज का अध्ययन समाजशास्त्र नामक विज्ञान के अंतर्गत किया जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार, समाजशास्त्र एक बहुत पुराना विज्ञान नहीं है। इससे संबंधित अवधारणाओं को विभिन्न कालों के आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं। समाजशास्त्र का आरम्भिक इतिहास 100 वर्षों की अवधि के आस–पास माना गया है। भारत में समाजशास्त्र का अध्ययन बम्बई विश्वविद्यालय में सन् 1914 में अर्थशास्त्र विषय के साथ प्रारम्भ किया गया। लेकिन 1919 में पैट्रिक गीड्स की अध्यक्षता में एक पृथक विभाग एवं पृथक विषय के रूप में पढ़ाई शुरू कराई गई। ऑगस्ट कॉट को समाजशास्त्र का जनक कहा जाता है, इन्होंने ही 1838 में इस नए विज्ञान को समाजशास्त्र का नाम दिया। 1917 में कोलकाता एवं 1921 में लखनऊ में समाजशास्त्र विभाग स्थापित किया गया। 1928 में मैसूर में डिग्री स्तर पर मान्यता दी गई। 1939 में पुणे में श्रीमती इरावती कर्वे की अध्यक्षता में इसकी शुरुआत हुई। 1951 के बाद समाजशास्त्र विषय में प्रकाशन एवं शोधकार्य में वृद्धि हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस विषय की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई कि शायद ही कोई ऐसा विश्वविद्यालय हो, जहाँ समाजशास्त्र विषय का अध्यापन सुचारु रूप से न चलता हो।

समाज के अध्ययन की परंपरा उतनी ही प्राचीन है जितना मानव का सामाजिक जीवन। साधारणतः माना जाता है कि समाजशास्त्र के विकास की पारम्परिक अवस्था यूरोप से शुरू हुई। परन्तु कुछ भारतीय विचारकों की मान्यता है कि सामाजिक जीवन से सम्बंधित अनेक महत्वपूर्ण

बातें वेदों, उपनिषदों, पुराणों, महाकाव्यों, एवं स्मृतियों आदि में मिलती है। पश्चिमी समाजों में समाज सम्बन्धी अध्ययनों का आरम्भ यूनानी विचारकों से हुआ। परन्तु भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय चिंतकों ने समाज और जीवन की एक व्यापक व्यवस्था का विकास पाश्चात्य विद्वानों के इस दिशा में चिंतन से पूर्व कर लिया था। समाजशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था यूरोप से शुरू हुई किन्तु भारतीय विचारकों ने समाज की व्यापक व्यवस्था धर्म, राजनीति एवं अर्थ के आधार पर की। भारतीय विचारकों ने समाज व्यवस्था की विवेचना आर्थिक व्यवस्था के आधार पर प्रस्तुत की है।

समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय अवस्था छठीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक मानी जाती है। इस काल में सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए धर्म और दर्शन का सहारा लिया जाता रहा। लेकिन तेरहवीं शताब्दी में सामाजिक समस्याओं को तार्किक ढंग से समझने का प्रयत्न किया गया। धीरे–धीरे सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में तर्क का महत्व बढ़ता गया।

समाजशास्त्र के तृतीय अवस्था का प्रारम्भ 15 वीं शताब्दी से माना गया है। इस काल में सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग आरम्भ हुआ। इस काल में विचारकों ने बौद्धिक चिंतन के फलस्वरूप समाजशास्त्र के विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार की। कई विद्वान सामाजिक घटनाओं को आर्थिक घटनाओं से पृथक करके उनका अध्ययन नहीं कर पाए।

समाजशास्त्र के विकास की चतुर्थ अवस्था का प्रारम्भ अगस्त कामटे के समय से माना जाता है। यही समाजशास्त्र के वैज्ञानिक विकास की वास्तविक अवस्था है, जिसमें सामाजिक घटनाओं का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन तथा विश्लेषण किया गया, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक नियमों का पता लगाया जा सके। समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों (इतिहास, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र) से पृथक स्वीकार किया गया। विश्व के विभिन्न विचारकों ने

अपनी रचनाओं एवं अध्ययनों के माध्यम से समाजशास्त्र के विकास में अपूर्व योगदान दिए।

आज समाजशास्त्र एक स्वतंत्र विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। आज समाजशास्त्र की अनेक शाखाओं का विकास हो चुका है। वर्तमान में समाजशास्त्र में वैज्ञानिक प्रवृत्ति और सांख्यिकी का प्रयोग दिनों दिन बढ़ता जा रहा है।

समाजशास्त्र की प्रकृति

किसी भी विषय की प्रकृति से आशय होता है कि वह विषय विज्ञान है या कला है। वास्तव में किसी विषय का विज्ञान होना या माना जाना प्रतिष्ठा सूचक है।समाजशास्त्र को विज्ञान मानने पर विद्वानों में भिन्नता पाई जाती है। प्रथम दृष्टिकोण से देखे तो समाजशास्त्र एक विज्ञान है जो अन्य विज्ञानों की तरह ही सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। दूसरे दृष्टिकोण के समर्थक मानते हैं कि समाजशास्त्र की प्रकृति जटिल है। घटनाएं परिवर्तित होती रहती है, इसलिए इसका वैज्ञानिक अध्ययन असंभव है।

समाजशास्त्र की विज्ञान के रूप में सीमाएं है, जैसे समाजशास्त्र की प्रयोगशाला नहीं हैं। समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने में असमर्थ है। इस सभी के बावजूद समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है क्योंकि समाजशास्त्र में सामाजिक घटनाओं का अध्ययन तार्किक एवं वैज्ञानिक तरीके से किया जाता है। इस विचारधारा से अधिकतर विचारक सहमत है कि समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में

समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में स्वीकार करने के निम्न कारण हैं:

1. समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों अन्तः क्रियाओं, सामाजिक व्यावहारों का अध्ययन कल्पना के आधार पर नहीं वरन् वास्तविक

रूप से वैज्ञानिक पद्धति द्वारा उपकल्पनों का परीक्षण कर सिद्धांतों के निर्माण द्वारा किया जाता है।

2. समाजशास्त्री किसी घटना या व्यवहार की व्याख्या तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर करते हैं।
3. समाजशास्त्र तथ्यों का यथार्थ में वर्णन नहीं करता अपितु वास्तविक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है ।
4. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति से आंकड़ें एकत्र किए जाते हैं, फिर उनका वर्गीकरण करके विश्लेषण द्वारा निष्कर्ष निकला जाता है।
5. समाजशास्त्र विज्ञान की भांति कार्य–कारण संबंधों की खोज करता है।
6. समाजशास्त्र एक तार्किक एवं अवलोकन योग्य विज्ञान है।
7. समाजशास्त्र में घटनाओं का विज्ञान की तरह क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है।
8. समाजशास्त्र ''क्या है'' का उल्लेख करता है ।

समाजशास्त्र कला के रूप में

समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को कला के रूप में निम्न टिप्पणियों द्वारा स्वीकार किया हैः

1. समाजशास्त्र में तटस्थता का अभाव है।
2. सामाजिक घटनाएं अमूर्त प्रकृति की एवं जटिल होती हैं।
3. समाजशास्त्र में प्रयोगशालाओं का अभाव है।
4. समाजशास्त्र में मापन की समस्या होती है।
5. सामाजिक घटनाओं की गतिशील प्रकृति होती है।
6. समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने में असमर्थ होता है।
7. सामाजिक घटनाओं में सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है।

समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति

जब समाजशास्त्र की प्रकृति को लेकर विवाद उत्पन्न हुआ तो समाजशास्त्री वीरस्टीड ने एक बीच का रास्ता लेकर समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति के बारे में निम्न तथ्यों को प्रस्तुत किया:

1. समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है न की प्राकृतिक विज्ञान।
2. समाजशास्त्र एक वास्तविक एवं पद्धतियों वाला विज्ञान है, आदर्शात्मक विज्ञान नहीं।
3. समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है, व्यावहारिक विज्ञान नहीं।
4. समाजशास्त्र एक तार्किक एवं अवलोकन योग्य विज्ञान है।
5. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है न कि विशिष्ट विज्ञान।
6. समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है, मूर्त विज्ञान नहीं।
7. समाजशास्त्र कला है किन्तु विज्ञान की कसौटी पर विज्ञान के सिद्धांतों एवं नियमों का पालन करने वाला शास्त्र है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है, जो निरपेक्ष, वास्तविक, अमूर्त, विशुद्ध एवं सामान्य विज्ञान होने के साथ–साथ तार्किक एवं अनुभव सिद्ध भी है।

समाजशास्त्र अन्य विषयों की तरह एक स्वतंत्र विषय है। जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान मानते हैं तो हमारा तात्पर्य एक ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

समाजशास्त्र का क्षेत्र

समाजशास्त्र समाज से सम्बंधित विज्ञान है, इसके क्षेत्र को किसी सीमा में बांधना एक कठिन कार्य है। क्षेत्र से तात्पर्य वे सम्भावित सीमायें हैं जहाँ तक किसी विषय का अध्ययन सम्भव होता है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा विभिन्न घटनाओं को अपने–अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है। इसी कड़ी में

समाजशास्त्र सामाजिक दृष्टिकोण से घटनाओं का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है एवं लचीला विज्ञान है। इसकी सीमा कहाँ से प्रारम्भ होती है, यह तय करना जटिल है। समाजशास्त्र के क्षेत्र के विषय में विद्वानों में भिन्न–भिन्न मत पाए गए हैं। इसलिए समाजशास्त्र के क्षेत्र को दो सम्प्रदायों में बांटा गया हैः

1) स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक संप्रदाय,

2) समन्वयात्मक सम्प्रदाय।

1. स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदायः यह संप्रदाय समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को अत्यंत सीमित एवं विशिष्ट मानता है। यह संप्रदाय केवल उन्हीं समस्याओं या सामाजिक पक्षों तक समाजशास्त्र के अध्ययन को सीमित करना चाहता है जिसका अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा नहीं किया जाता है। यह संप्रदाय समाजशास्त्र को मात्र समाज में पाए जाने वाले विविध प्रकार के संबंधों के स्वरूपों के अध्ययन तक ही सीमित रखना चाहता है। इस संप्रदाय की मान्यता है कि अन्य पहलुओं का अध्ययन दूसरे सामाजिक विज्ञानों के समान असंभव है।

इस विचारधारा के प्रतिपादक जॉर्ज सिमेल हैं। अन्य समर्थकों में मैक्स वेबर, वीरकाण्ट, स्माल, टॉमिस, वर्गेस, बोगल आदि हैं।

जॉर्ज सिमेल ने समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन माना है। उनका कहना है कि सामाजिक संबंधों के विभिन्न स्वरूपों के माध्यम से ही समाजीकरण होता है। अतः इसे समाजीकरण के स्वरूपों का विज्ञान कहा है।

मैक्स वेबर का विचार है कि समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करना चाहिये। सामाजिक व्यवहार एक प्रकार की ऐसी क्रिया है जो कर्ता के अभिप्राय से दूसरों के व्यवहारों से सम्बंधित है और उसी से निश्चित होती है।

वीरकाण्ट का विचार है कि समाजशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान है।

इनके अनुसार समाजशास्त्र को मानसिक संबंधों के उन स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए जो एक दूसरे को बांधते हैं। वीरकाण्ट के अनुसार ये मानसिक सम्बन्ध प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, ममता, सम्मान आदि से व्यक्त होते हैं ।

स्माल यह मानते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का विशिष्ट अध्ययन है। इनका मत जॉर्ज के मत से मिलता–जुलता है। उनका कहना है कि समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक संबंधों और व्यवहारों के क्रियाओं के मूल रूप का विशिष्ट अध्ययन करना मात्र है, न कि समाज में होने वाली प्रत्येक घटना अथवा क्रिया का।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचनाः इस संप्रदाय के विचारकों ने जिन आधारों पर समाजशास्त्र के क्षेत्र को सीमित अथवा विशेष बनाने की बात कही है उसकी कुछ विद्वानों ने आलोचना की है। आलोचना के मुख्य आधारबिंदु निम्न हैः

1. मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों और अन्तर्वस्तुओं की अलग–अलग कल्पना भ्रमपूर्ण है। सामाजिक घटनाओं की अंतर्वस्तु में परिवर्तन के साथ साथ स्वरुप में भी परिवर्तन हो जाता है।
2. यह बात निराधार है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन किसी अन्य सामाजिक विज्ञान द्वारा नहीं किया जा सकता। विधि विज्ञान में सत्ता संघर्ष, स्वामित्व आदि का अध्ययन स्पष्ट रूप से किया जाता है।
3. इस संप्रदाय ने समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र को अन्य विज्ञानों से अलग बताया है। लेकिन प्रत्येक विज्ञानों को यहाँ तक की प्राकृतिक विज्ञान को भी दूसरे विज्ञानों की मदद लेना आवश्यक होता है।
4. इस सम्प्रदाय ने अमूर्तता पर अधिक जोर दिया है। यह अवैज्ञानिक है। सामाजिक सम्बन्धों को सूक्ष्म एवं अमूर्त रूप में अध्ययन किया जाये तो यह समाज के लिए लाभदायक नहीं होगा।

2. **समन्वयात्मक संप्रदायः** इस संप्रदाय के समर्थकों के अनुसार समाजशास्त्र को केवल सामाजिक संबंधों के स्वरूपों तक सीमित नहीं रखा जा सकता, बल्कि संपूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन करना ही इसका उद्देश्य है। इस संप्रदाय के समर्थक हैंः– सोरोकिन, दुर्खीम, हॉबहाउस, गिन्सबर्ग, स्पेंसर, आदि। इस सम्प्रदाय के अनुसार समाज का प्रत्येक भाग परस्पर सम्बंधित है। यदि एक भाग में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव संपूर्ण समाज पर पड़ता है। इसलिए सारे समाज का अध्ययन करना आवश्यक है।

सोरोकिन के अनुसार समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है। वे मानते है कि सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहारों के सामान्य स्वरूपों, प्रकारों और अन्तर्सम्बन्धों का सामान्य विज्ञान ही समाजशास्त्र है। वे प्रायः सभी विज्ञानों को परस्पर सम्बंधित और परस्पर निर्भर मानते हैं।

दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है। समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक संस्थाओं एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन से है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार एवं धारणाएं और भावनाएं होती हैं जो व्यक्तिगत चेतना के पारस्परिक प्रभावों के कारण स्पष्ट होती है। इसलिए यह सामूहिक रूप से समस्त समूह के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हॉबहाउस का दृष्टिकोण भी समन्वयात्मक है। इनके अनुसार विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन इस प्रकार किया जाना अनिवार्य है, जिसमें समाजशास्त्र सामान्य जीवन का अध्ययन उसी समय कर सके, जब समाजशस्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों के आधारभूत विचारों का अध्ययन करे या मुख्य धारणाओं को खोजने का प्रयत्न करे। इसलिए समाजशास्त्र को विशेष प्रकार के संबंधों तक सीमित नहीं रखा जा सकता है।

समन्वयात्मक संप्रदाय की आलोचना

कुछ विद्वानों द्वारा इस संप्रदाय की भी आलोचना की गयी है, जैसेः

1. यदि समाजशास्त्र में सभी प्रकार के सामाजिक तथ्यों एवं घटनाओं

का अध्ययन किया जाएगा तो वह एक मिश्रित विज्ञान बन जायेगा।

2. यदि समाजशास्त्र सामान्य विज्ञान होगा तो इसका कोई अपना स्वतंत्र क्षेत्र नहीं होगा। ऐसी स्थिति में उसे अन्य विज्ञानों पर निर्भर रहना पड़ेगा।
3. यदि समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों एवं घटनाओं का अध्ययन किया जाने लगे तो ऐसी दशा में किसी भी तथ्य या घटना का पूर्णता के साथ अध्ययन नहीं हो पाएगा।
4. यदि समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का योग या संकलन मात्र होगा तो इसकी अपनी कोई निश्चित प्रकृति विकसित नहीं हो पाएगी।

यदि समाजशास्त्र के उपरोक्त दोनों सम्प्रदायों की विवेचना करें तो दोनों ही विचारधारायें परस्पर विरोधी हैं। दोनों का महत्व एक समान है। एक विचारधारा के दृष्टिकोण से समाजशास्त्र विशेष संबंधों का अध्ययन करने वाला सामाजिक विज्ञान है तो दूसरी विचारधारा के अनुसार सामान्य संबंधों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। वास्तविकता यह है कि समाजशास्त्र के क्षेत्र से सम्बंधित दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय की आवश्यकता है।

एक ओर सामान्य तत्वों का ज्ञान आवश्यक है तो दूसरी ओर विशिष्ट पहलुओं को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इसलिए समाजशास्त्र विशिष्ट एवं सामान्य दोनों ही है।

समाजशास्त्र की विषयवस्तु

समाजशास्त्र की विषयवस्तु से तात्पर्य उन निश्चित विषयों से है, जिसका अध्ययन समाजशास्त्र के अंतर्गत किया जाता है। विषयवस्तु का निर्धारण करना इसलिए भी आवश्यक है कि किसी भी विषय में सभी पहलुओं या बातों का अध्ययन नहीं किया जा सकता। विषयवस्तु के निर्धारण से ही किसी भी विषय को अन्य विषयों से अलग किया जा सकता है। अन्य विषयों की तरह समाजशास्त्र की भी निश्चित विषयवस्तु है।

समाजशास्त्र एक नया विषय है। इस सन्दर्भ में विद्वानों के द्वारा समाजशास्त्र की विभिन्न विषयवस्तु बताई गयी हैं –

दुर्खीम के अनुसार दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तीन भागों में बांटा हैः

1. **सामाजिक रचनाशास्त्र या सामाजिक स्वरूपशास्त्रः** इसके अंतर्गत समाज की रचना या स्वरुप का निर्माण करने वाली इकाईओं के अध्ययन पर बल दिया गया है। इसमें मुख्यतः भौगोलिक परिस्थितियों (जनसंख्या, घनत्व) का प्रभाव समाज की रचना या स्वरुप के निर्माण पर पड़ता है। जिससे सामाजिक संगठन का निर्माण होता है और इसी का अध्ययन किया जाता है।
2. **सामाजिक दैहिकी या सामाजिक शरीरशास्त्रः** समाज के महत्वपूर्ण पक्षों के गहन एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए समाजशास्त्र के अंतर्गत अनेक उपशाखाओं का अध्ययन किया जाता है। इसके अंतर्गत वे विषय आते हैं जिनका अध्ययन विशेष विज्ञान करते हैं। जैसे धर्म का समाजशास्त्र, कानून का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र, शिक्षा का समाजशास्त्र आदि। समाजशास्त्र इन सभी सामाजिक विषयों का अध्ययन करता है।
3. **सामान्य समाजशास्त्रः** सामान्य घटनाओं एवं नियमों से सम्बन्धित दुर्खीम ने इस भाग को समाजशास्त्र का दार्शनिक भाग कहा है। इसमें उन विधियों का अध्ययन किया जाता है जो सामान्य हितों एवं सामाजिक नियमों को सुरक्षित रखने के लिए महत्वपूर्ण हैं।

एलेक्स एंकल्स के अनुसारः इन्होने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी' में समाजशास्त्र की विषयवस्तु का निर्धारण निम्नलिखित तीन विधियों (पथ) द्वारा करने का प्रयास किया है।

1. **ऐतिहासिक विधिः** इस विधि में इन्होंने यह जानने का प्रयत्न किया है समाजशास्त्र के जन्मदाताओं ने इसकी विषयवस्तु के बारे में क्या कहा है। इस विधि के अर्न्तगत इन्होनें चार समाजशास्त्रियों

के विचारों का उल्लेख किया है जिन्होनें समाजशास्त्र को विज्ञान माना है। ऑगस्ट कांपटे, हर्बर्ट स्पेंसर, इस्माइल दुर्खीम, एवं मैक्स वेबर।

2. **आनुभविक विधिः** इस विधि द्वारा एलेक्स ने यह जानने का प्रयास किया है कि आज समाजशास्त्र में किन बातों को अधिक महत्व दिया जा रहा है। इसके अंतर्गत उन स्त्रोतों का पता लगाया जा सकता है जो विभिन्न पहलुओं को अध्ययन में शामिल कर सके। जैसेः मानव समूह, जाति तथा वर्ग, जनसंख्या, सामाजिक परिवर्तन, संस्कृति, परिवार, शिक्षा, धर्म, अर्थव्यवस्था आदि।
3. **विश्लेषण विधिः** एलेक्स का मानना है कि समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तार्किक विश्लेषण द्वारा निर्धारित करना अनिवार्य है। इस विधि द्वारा एलेक्स ने समाजशास्त्र की वृहद् विषयवस्तु को तार्किक दृष्टिकोण से परिसीमित करने का प्रयास किया है। इनके अनुसार समाजशास्त्र की विशिष्ट विषयवस्तु में तीन पहलुओं को शामिल किया जा सकता है।

1. समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है।
2. समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का अध्ययन है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को अपने अपने विचार से विभक्त किया हैः

लेस्टरवार्ड ने इसे दो भागों में विभक्त किया है 1. शुद्ध समाजशास्त्र, 2. व्यावहारिक समाजशास्त्र।

टोनिज ने तीन भागों में बांटा हैः 1. विशुद्ध समाजशास्त्र, 2. व्यावहारिक समाजशास्त्र, 3. प्रयोगसिद्ध समाजशास्त्र।

जॉर्ज सिमेल ने इसे तीन भागों में बांटा हैः 1. सामान्य समाजशास्त्र, 2. दार्शनिक समाजशास्त्र, 3. स्वरूपात्मक समाजशास्त्र।

सोरोकिन ने तीन भागों में बांटा हैः 1. सामाजिक घटनाओं में सहसम्बंधों का अध्ययन, 2. सामाजिक जीवन पर अन्य कारकों का प्रभाव, 3. सामाजिक जीवन की विशेषताओं का अध्ययन।

मैकाइवर ने भी समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तीन भागों में विभक्त किया हैः 1. सामाजिक सम्बन्ध, 2. सामाजिक अंतःक्रिया, 3. संस्कृति।

जिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को चार भागों में बांटा है 1. सामाजिक रचनाशास्त्र, 2. सामाजिक नियंत्रण, 3. सामाजिक प्रक्रियाएं 4. सामाजिक विकार या व्याधिशास्त्र।

अतः समाजशास्त्र संपूर्ण समाज की एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन करने वाला विज्ञान है। यह सामाजिक दशाओं, सामाजिक परिवर्तनों, उनके कारणों एवं परिणामों का क्रमबद्ध अध्ययन करता है। समाजशास्त्र की विषयवस्तु के अंतर्गत परिवार, राजनीतिक संगठन, धार्मिक संस्थाएं, औद्योगिक संरचना आदि को रखा जा सकता है। ये विभिन्न समूह एवं संस्थाएं समाज को किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य करता है।

समाजशास्त्र का महत्व

समाजशास्त्र पहला विज्ञान है जिसने समाज की विवेचना एवं विश्लेषण को ही अपना प्रमुख अध्ययन विषय माना है। समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र के अध्ययन से ही समाज का वास्तविक वैज्ञानिक अध्ययन संभव हुआ है। समाजशास्त्र एक ऐसा विषय है जो सामाजिक संबंधों के अध्ययन में रूचि रखता है। समाजशास्त्र अध्ययन करता है कि सम्बन्ध कैसे जुड़ते हैं, समाज में परिवर्तन कब और कैसे आते हैं, प्रणालियों का निर्माण कैसे होता है। समाजशास्त्र हमें यह बताता है कि हम जो बनना चाहते हैं वो कैसे बनें। अपने समाज को और अधिक विकसित करने के लिए समाजशास्त्र को जानना और समझना अति आवश्यक हैं। समाजशास्त्र का हमारे समाज

में क्या महत्व है, यह जानने के लिए कुछ बिंदुओं पर प्रकाश डाला गया है।

1. समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन करता है।
2. समाजशास्त्र मनुष्य की सामाजिक प्रकृति पर अधिक प्रकाश डालता है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया को और भी अधिक शक्तिशाली बनाने में मदद करता है।
4. समाजशास्त्र व्यक्तियों के विकास में संस्थाओं की क्या भूमिका है, इसका अध्ययन करता है।
5. समाजशास्त्र समाज को समझने और योजना बनाने के लिए अनिवार्य विषय है।
6. सामाजिक समस्याओं के समाधान में समाजशास्त्र बहुत उपयोगी है।
7. समाजशास्त्र ने मनुष्य के आतंरिक मूल्य और गरिमा की ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया है।
8. समाजशास्त्र के अध्ययन के माध्यम से सामाजिक अपराध के विभिन्न पहलुओं पर हमारे दृष्टिकोण में बदलाव आया है।
9. समाजशास्त्र की मदद से मानव संस्कृति को और अधिक समृद्ध बनाया गया है।
10. अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में समाजशास्त्र का बहुत ही महत्त्व है। ये हमें अंतर्न्हित कारणों और तनावों को समझने में मदद कर सकता है।
11. समाजशास्त्र व्यक्ति को नवीन सामजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करने में सहायता प्रदान करता है।
12. समाजशास्त्र सामाजिक जीवन की सामान्य समस्याओं का ज्ञान एवं समाधान के उपाय सुझाने में मदद करता है।
13. समाजशास्त्र समाज में धार्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एकता कायम

करने में मदद करता है।

14. समाजशास्त्र पारिवारिक जीवन को सफल बनाने में सहायता करता है।

15. व्यावसायिक दृष्टिकोण से भी समाजशास्त्र का महत्व है। समाज कल्याण, परिवार नियोजन, सामाजिक सेवा, ग्राम और शहर नियोजन, प्रशासन, सामुदायिक योजनाएं इत्यादि कार्यों में समाजशास्त्री महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

16. समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण के द्वारा मनुष्य को समाज के अनुशासन एवं नियमों का पालन करना सिखाता है।

17. समाजशास्त्र हमें सांस्कृतिक अंतरों के बारे में जागरूक कर संवेदनाओं को बढ़ाने का साधन प्रदान करता है।

18. समाजशास्त्र हमें आत्म ज्ञान में वृद्धि के साथ–साथ आत्म समझ प्रदान कर समूहों एवं स्वयं के जीवन की स्थिति को समझने एवं बदलने का अवसर प्रदान करता है।

––==00==––

समाज

भूमिका

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक की अवधि को देखें और समझें तो समाज एक से अधिक लोगों के समुदायों से मिलकर बने एक वृहद् समूह को कहते हैं, जिसमें सभी व्यक्ति क्रियाकलाप करते हैं। मानवीय क्रियाकलाप में आचरण एवं व्यवहार भी सम्मिलित होते हैं। समाज लोगों का ऐसा समूह होता है जो समाज के अंदर के लोगों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखतें हैं। दुनिया के सभी समाज अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए अलग–अलग रस्मों–रिवाजों का पालन करते हैं। समाज में विभिन्न कर्ताओं का समावेश होता है, जिनमें अंतःक्रिया होती है। इस अन्तःक्रिया का भौतिक और पर्यावरणात्मक आधार होता है। चूंकि समाज व्यक्तियों के पारस्परिक सबंधों की एक व्यवस्था है इसलिए इसका कोई मूर्त स्वरुप नहीं होता। इसकी अवधारणा अनुभूतिमूलक है।

समाजशास्त्रियों ने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल माना है। वास्तव में अनेक परिवारों के आपसी संबंधों से समाज का निर्माण होता है, तभी मानव को सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त होता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज व सामाजिक जीवन मानव का स्वभाव बन जाता है। मानव से ही समाज है। मानव की मुलभूत आवश्यकताएं समाज के द्वारा ही पूर्ण होती है। प्रत्येक समाज का धार्मिक, सांस्कृतिक, एवं आर्थिक पर्यावरण अलग–अलग होता है। मनुष्य समाज से बाहर होकर जीवन व्यतीत नहीं कर सकता है। मनुष्य की आवश्यकताओं ने ही समाज को प्रत्येक काल में महत्वपूर्ण दर्जा दिलाया है।

समाज का अर्थ

समाज से आशय व्यक्तियों के मध्य पाए जाने वाले पारस्परिक व्यवस्थित सामाजिक संबंधों से है। व्यक्ति एवं व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले अनेक सम्बन्ध होते हैं जो समाज का निर्माण करते हैं।

साधारण बोलचाल की भाषा में 'समाज' शब्द को व्यक्तियों के समूह के अर्थ के रूप में प्रयोग किया जाता है। मानव समाज का सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन समाजशास्त्र विषय के अंतर्गत किया जाता है। समाजशास्त्र जिस बिंदु के चारों ओर घूमता है वही समाज है। समाजशास्त्रियों ने समाज शब्द के कई अर्थ लगाएं हैं, किसी के लिए समाज व्यक्तियों का समूह है तो किसी के लिए समुदाय, तो किसी के लिए सम्पूर्ण मानव जाति भी 'समाज' रहा है। समाज में मानव व्यव्हार व संबंधों के नियंत्रण की व्यवस्था होती है जो समाज के संगठन को स्थिरता प्रदान करने की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखती है। समाज मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाज ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। समाज के बाहर किसी भी व्यक्ति का अस्तित्व नहीं रहता है।

समाज की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों के द्वारा समाज को पारिभाषित किया गया हैः

गिडिंग्स के अनुसार, ''समाज स्वयं संघ है, वह एक संगठन और व्यवहारों का योग है जिसमें सहयोग देने वाले एक दूसरे से सम्बंधित होते हैं।''

रायट के अनुसार, ''यह व्यक्तियों का एक समूह नहीं है, अपितु विभिन्न समूहों के व्यक्तियों के बीच संबंधों की व्यवस्था है।''

रियूटर के अनुसार, ''समाज एक अमूर्त धारणा है जो समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है।''

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''समाज चलनों एवं प्रणालियों की सत्ता व पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों व भागों की, मानव व्यवहार के नियंत्रणों और स्वाधीनताओं की एक व्यवस्था है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है की समाज व्यक्तियों का एक समूह है जो परपर संबंधों में बंधा हुआ होता है और यही सम्बन्ध समाज का निर्माण करते हैं।

समाज की विशेषताएं

समाज के अर्थ व परिभाषाओं को जानने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि हम जिस समाज में रहते हैं उसकी विशेषताओं को भी जाने, जो निम्न बिंदुओं द्वारा लिखित हैः

1. **समाज अमूर्त हैः** समाज अमूर्त है, क्योंकि समाज केवल व्यक्तियों का समूह मात्र न होकर उनके बीच उत्पन सामाजिक संबंधों का एक जाल है। सामाजिक संबंधों को न तो देखा जा सकता है और न ही स्पर्श किया जा सकता है, इन्हें सिर्फ अनुभव किया जा सकता है। समाज कोई वस्तु नहीं है। समाज में रहकर ही हम विभिन्न अवसरों और परिस्थितियों में व्यवहार करना सीखते हैं। अनुभव द्वारा ही व्यक्ति समाज के नियमों एवं नियंत्रणों को जानता है। इसीलिए समाज अमूर्त है, जिसे सामाजिक सदस्यों के बीच होने वाले व्यव्हार और भावात्मक एकता द्वारा ही समझा जा सकता है।
2. **पारस्परिक निर्भरताः** समाज की एक प्रमुख विशेषता पारस्परिक निर्भरता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के दूसरे सदस्यों पर निर्भर रहता है। इसी पारस्परिक निर्भरता के कारण ही समाज के सदस्य सामाजिक संबंधों में बंधे हुए होते हैं। किसी भी समाज में समानता, एकता और सौहार्द्र की भावना पैदा होने का कारण पारस्परिक निर्भरता ही है। समाज का कोई भी कार्य व्यक्ति अकेले नहीं कर सकता, उसे समाज के अन्य सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। सामाजिक उत्सव, आर्थिक व्यवस्था, स्वास्थ्य सभी में समाज पारस्परिक मिलकर ही कार्य एवं सहयोग करते हैं।
3. **पारस्परिक जागरूकताः** पारस्परिक जागरूकता भी समाज का आवश्यक तत्व एवं विशेषता है। जब लोग एक दूसरे को आपस में जानने पहचानने लगते हैं तभी सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। जिनमे पारस्परिक जागरूकता नहीं पायी जाती वे एक दूसरे से प्रभावित नहीं होते और अन्तःक्रिया नहीं हो पाती। सामाजिक अंतः क्रिया ही

सामाजिक संबंधों को बनाये रखती हैं। संबंध भी दो प्रकार के होते हैं, एक भौतिक संबंध दूसरा सामाजिक संबंध। भौतिक सम्बन्ध आपस में जागरूक नहीं होते, किन्तु सामाजिक संबंधों में परस्पर जागरूकता रहती है।

4. **समाज संबंधों की व्यवस्था हैः** समाज सामाजिक संबंधों का ही एक जाल है जो सामाजिक संबंधों के ताने बाने से बना होता है। समाज विभिन्न खण्डों एवं उपखंडों से बना है जिनमें एक व्यवस्था होती है। समाज संबंधों का केवल एक संगठन या संकलन ही नहीं, वरन एक जटिल व्यवस्था भी है। सामाजिक संबंधों का निर्माण, क्रम–विन्यास समाज की संरचना को व्यक्त करता है। जब तक सम्बन्ध परस्पर एक–दूसरे पर निर्भर है, तब तक समाज की व्यवस्था अखंड है। इन्हीं संबंधों को बनाये रखने की क्षमता हमें समाज से सीख के रूप में प्राप्त होती है।

5. **समाज का एक मनोवैज्ञानिक आधारः** सामाजिक संबंधों का अर्थ ही है समाज के दो या दो से अधिक सदस्यों में पारस्परिक अनुभूति का पाया जाना। यह पारस्परिक अनुभूति या मानसिक जागरूकता समाज के प्रत्येक प्रकार के संबंधों में पायी जाती है। यह मानसिक जागरूकता चेतना से उत्पन्न होती है। यह एक स्वाभाविक वृत्ति है जो समाज का मनोवैज्ञानिक आधार है, जो एक–दूसरे के प्रति सहयोग की भावना उत्पन्न करता है। व्यक्ति जब सामाजिक संबंधों को निभाता है तो वह एक मानसिक संतुष्टि का अनुभव भी करता है। किसी की मदद करके शांति का अनुभव करना भी मनोवैज्ञानिक पहलू है।

6. **समाज निरंतर बना रहता हैः** समाज व्यक्तियों का समूह ही नहीं वरन व्यक्तियों से बने संबंधों की व्यवस्था है। समाज में कई पीढियाँ निरंतर जाती एवं आती रहती है लेकिन समाज बना ही रहता है। समाज कोई वस्तु नहीं है, जो समाप्त हो जाये। व्यक्ति मरता अवश्य है किन्तु समाज में व्यक्तियों की निरंतरता बनी रहती है। समाज में

परिवर्तन भी आता है। समाज में समय के साथ विकास भी होता है, मगर समाज संबंधों का जाल माना जाने वाला एवं निरंतरता को सभी कालो तक कायम रखने वाला है।

7. **समाज परिवर्तनशील एवं जटिल व्यवस्था है:** समाज की यह भी विशेषता है कि समाज परिवर्तनशील एवं जटिल होता है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। समाज में व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध स्थिर नहीं रहते हैं। समाज में परिवर्तन के अनेकों कारण हैं जैसे आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक कारण। परिस्थितियाँ बदलने के साथ ही जरूरतें एवं इच्छाएं भी बढ़ती हैं। सामाजिक संबंधों में भी समय के साथ बदलाव आ ही जाता है। पुरानी प्रथाएं पुराने सम्बन्ध समय के साथ परिवर्तित हो कर नए रूप में समाज में मिल जाते हैं।

8. **समाज में सहयोग एवं संघर्ष दोनों पाए जाते हैं:** सहयोग एवं संघर्ष प्रत्येक समाज में सदैव चलने वाली प्रक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति के पास सभी कार्यों को करने की क्षमता एवं सुविधा एक सामान नहीं होती है। अतः व्यक्ति अपने हितों एवं आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरे से सहयोग लेता है और दूसरों को सहयोग देता भी है। वहीं पर अनेक लोगों के बीच सामाजिक भिन्नता होने के कारण संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता है। यह सामाजिक संघर्ष समाज में हिंसक एवं अहिंसक दोनों तरीकों से हो सकते हैं। कार्ल मार्क्स ने वर्ग संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण माना है।

9. **समाज केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं है:** समाज केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं है। मनुष्यों के अतिरिक्त पशु–पक्षियों में भी समाज पाया जाता है। मानव समाज में संबंधों का ताना–बाना होता है। मनुष्य संबंधों के प्रति जागरूक एवं परस्पर निर्भर होते हैं। परन्तु पशु–पक्षियों में जागरूकता का अभाव होने के कारण उनका समाज सीमित होता है। वे केवल आवश्यकता होने पर ही समाज को महत्व देते हैं। उनकी संस्कृति नहीं होती है, किन्तु मानव समाज में

आवश्यकता के साथ ही नियंत्रण भी रहता है। इसलिए समाजशास्त्र में मानव समाज का ही अध्ययन किया जाता है, क्योंकि मानव समाज निरंतर बना रहता है।

10. **समानता एवं असमानताः** समाज के निर्माण के लिए समानता एक आवश्यक तत्त्व है। सामाजिक संबंधों का निर्माण उसी दिशा में होता है जबकि संबंध स्थापित करने वाले व्यक्तियों में आपस में कुछ न कुछ समानता होती है। लोगों के बीच जुड़ने के लिए कोई न कोई समानता आवश्यक है। विचारों की समानता, उद्देश्यों की समानता इसका मुख्य उदाहरण है। समाज में ही दो व्यक्तियों के बीच असमानता भी पाई जाती है। यह असमानता व्यक्तियों के बीच विभिन्न रूपों में दिखाई देती हैए जैसे व्यक्ति–व्यक्ति में भिन्नता, लैंगिक भिन्नता, विचार तथा क्षमताओं में भिन्नता, इच्छाओं और आकांक्षाओं में भिन्नता आदि। यही असमानता सामाजिक संबंधों पर भी नजर आती है।

समाज के प्रकार

समाज के निम्न प्रकार बताएं गए हैंः

1. **जनजातीय समाजः** यह प्रारंभिक समाज है। इस प्रकार के समाज का विस्तार नातेदारी तक सीमित होता है। इस प्रकार के समाज में मानवीय ऊर्जा का प्रयोग अधिक किया जाता है, श्रम–विभाजन नहीं पाया जाता है। जीविकोपार्जन के लिए शिकार एवं खाद्य संग्रह पर निर्भर रहते हैं। अतिरिक्त उत्पादन समूह के भीतर या समूहों के बीच वस्तु–विनिमय के लिए होता है। वर्तमान में जनजातीय समाज में भी जीवन यापन में आधुनिकता एवं शिक्षा के प्रति जागरूकता देखी जा सकती है।
2. **कृषक समाजः** कृषक समाज का निवास स्थायी होता है एवं ये मुख्य रूप से कृषि से जुड़े रहते है। कृषि उत्पादन के लिए आंशिक बाजार पाया जाता है। कृषक समाज आत्मनिर्भर होते हैं एवं अपने

जीवन यापन के लिए कृषि का ही उपयोग करते हैं। वर्तमान में यह समाज भी आधुनिकता के दौड़ में हैं। अधिकांश कृषक समाज ग्रामीण अंचल में निवास करते हैं। परन्तु वर्तमान ग्रामीण–नगरीय क्षेत्र का विकास होने के कारण यह समाज भी शहरीकरण के अंतर्गत आने लगे हैं।

3. **औद्यौगिक समाजः** इस प्रकार के समाज में उन्नत प्रौद्यौगिकी पायी जाती हैं। इस समाज में निजी सम्पत्ति का आविर्भाव हुआ है। शिक्षा का प्रसार अधिक होता है। मानवीय ऊर्जा के साथ ही निर्जीव ऊर्जा (मशीने, तेल, बिजली) का प्रयोग करते हैं। अधिकतर सामाजिक सम्बन्ध आवश्यकता जनित होते हैं। श्रम विभाजन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। औद्योगिक समाज में परिवर्तन कृषक एवं जनजातीय समाज की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से होता है।

4. **उत्तर औद्योगिक समाजः** उत्तर औद्योगिक समाज शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम डेनियल बेल ने किया था। इस समाज में सेवा क्षेत्र अधिक महत्पूर्ण हो जाता है। उत्पादन की जगह उपभोग तथा अवकाश का क्षेत्र बढ़ता जाता है। इस समाज में संपत्ति अर्जन का आधार ज्ञान या प्रौद्योगिकी होता है। मशीनीकरण के स्थान पर स्वचालिनीकरण की महत्ता बढ़ जाती है। श्रम विभाजन के स्थान पर विशेषीकरण का अधिक महत्व होता है।

हर्बर्ट स्पेंसर के अनुसार, समाज के प्रकारः 1. सरल समाज, 2. मिश्रित समाज, 3. दोहरे मिश्रित समाज, 4. तिहरे मिश्रित समाज।

समाज का उद्देश्य

समाज के निम्न उद्देश्य दर्शाए गए हैः

1. समाज के सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।
2. समायोजन स्थापित करने में सहायता प्रदान करना।
3. भौतिक सहायता प्रदान कर मानवीय समस्याओं का समाधान करना।

4. समाज के निर्बल एवं कमजोर वर्ग के लोगों को अच्छे जीवन स्तर की सुविधाएं उपलब्ध कराना।
5. सामाजिक संबंधों को सौहाद्रपूर्ण एवं मधुर बनाना।
6. सामाजिक उन्नति एवं विकास के अवसर उपलब्ध कराना।
7. समाज के सदस्यों में सामाजिक नियंत्रण बनाये रखना एवं सामाजिक चेतना जागृत करना।
8. स्वस्थ जनमत तैयार करना।
9. समाज में शांति एवं व्यवस्था को प्रोत्साहित करना।
10. अपनी संस्कृति को बनाये रखने के लिए प्रयास करना।
11. समाज की निरंतरता को बनाये रखना।
12. एक बहुउद्देश्यीय समाज की स्थापना कर जान कल्याण की भावना विकसित करना।

समाज की आवश्यकता

प्रत्येक समाज में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। आवश्यकता से आशय समाज के अस्तित्व की कुछ अनिवार्य दशाओं से है। जिसे निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया हैः

1. जनसंख्या का प्रतिपालन।
2. पोषण का प्रबंध।
3. क्षति के विरुद्ध संरक्षण की व्यवस्था।
4. नए जीवों का पुनरुत्थान।
5. जनसँख्या के बीच कार्य का विभाजन।
6. समूह का संगठन एवं संरचना का गठन।
7. सदस्यों के बीच संपर्क की प्रेरणा।
8. पारस्परिक सहयोग की निरंतरता।
9. मानवीय एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति।

समाज एवं एक समाज

सामान्य बोलचाल में समाज एवं एक समाज के लिए एक ही शब्द का प्रयोग कर एक ही अर्थ लगाते हैं। किन्तु समाज एवं एक समाज में पर्याप्त अन्तर होता है। जहाँ समाज शब्द अमूर्त एवं सामाजिक संबंधों का ताना–बाना माना जाता है अर्थात् सामाजिक संबंधों का जाल कहा जाता है। वहीं पर एक समाज शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट समाज के लिए किया जाता है, जैसे ब्रम्हकुमारी समाज, भारतीय अमेरीकी समाज, आर्य समाज आदि। समाजों में समानताएं पायी जाती है, लेकिन एक समाज में सभी समाज एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। समाज निरंतर चलने वाला समूह है, किन्तु एक समाज में निरंतरता का अभाव होता है। समाज में लोग स्वतंत्र रूप से अपनी प्रजाति को जीवित एवं स्थायी रखने में समर्थ होते हैं, किन्तु एक समाज में मनुष्य सामान्य जीवन जीते हैं और किसी विशिष्टिकरण से बंधे होते हैं।

समाज एवं एक समाज में अंतर

समाज और एक समाज के मध्य पाए जाने वाले अंतर को निम्न बातों से समझा जा सकता हैः

1. समाज बहु सांस्कृतिक होता है अर्थात् एक ही समाज में एक से अधिक संस्कृतियां साथ–साथ चलती हैं। इसके विपरीत एक समाज में एक ही संस्कृति विद्यमान होती है।
2. समाज शब्द एक विशाल क्षेत्र के लिए प्रयोग किया जाता है लेकिन एक समाज का प्रयोग सीमित क्षेत्र के लिए होता है।
3. समाज संबंधों का जाल एवं अमूर्त होता है मगर एक समाज व्यक्तियों का समूह एवं एक पहचान या नाम होने के कारण मूर्त होता है।
4. समाज के सदस्यों में व्यवहारों एवं क्रियाओं में भिन्नता पायी जाती है। एक समाज के सदस्यों में कुछ न कुछ समानता का होना आवश्यक होता है।

5. समाज को किसी भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत बांधा नहीं जा सकता है परन्तु एक समाज को किसी भौगोलिक सीमा के अंदर बांधा जा सकता है।
6. समाज संबंधों की पूर्ण व्यवस्था है लेकिन एक समाज में सम्बन्ध विशेषीकृत होते हैं।
7. समाज की सदस्यता अनिवार्य होती है, प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समाज का सदस्य अवश्य होता है। परन्तु एक समाज में सदस्यता अनिवार्य नहीं अपितु ऐच्छिक होती है।
8. समाज पुरातन एवं सरल समाज के नाम से भी जाना जाता है। लेकिन एक समाज नवीन एवं विशिष्टता के कारण थोड़ा जटिल माना जाता है।

इस प्रकार देखें तो समाज में व्यक्ति का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति की कुछ नैसर्गिक तथा अर्जित आवश्यकताएं होती हैं जिसकी पूर्ति करने में स्वयं व्यक्ति असमर्थ होता है। इन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज की स्थापना की गयी। समाज एक संगठित व्यवस्था है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा संकलन है जिसमे वह निश्चित सम्बन्ध तथा विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक–दूसरे से बंधे हुए होते हैं। व्यक्तियों की यह संगठित व्यवस्था विभिन्न कार्यों के लिए विभिन मानदंडों को विकसित करती हैं जिसमें कुछ व्यवहार मान्य तथा कुछ व्यवहार निषिद्ध होते हैं। समाज के सभी मानदंड सभी सदस्यों द्वारा मान्य होते हैं। इसी कड़ी में सामाजिक नियंत्रण की भूमिका भी महत्वूर्ण होती है।

––==00==––

समुदाय

भूमिका

समाज में रहकर व्यक्ति को अनेक प्रकार के संघर्ष व एक–दूसरे का सहयोग करना होता है। व्यक्ति समूह में रहकर ही किसी समाज या समुदाय का निर्माण करता है। जिस प्रकार से समाज किसी व्यक्ति की पहचान होती है, उसी प्रकार से समुदाय भी कुछ विशेषताओं के साथ व्यक्ति की पहचान होती है। समाज और समुदाय व्यक्तियों का समूह होते हुए भी कुछ भिन्नता लिए हुए होते हैं। व्यक्ति समुदाय में रहकर अपना सामान्य जीवन व्यतीत करता है। जैसे हम जिस गाँव या शहर में रहते हैं वह समुदाय ही है। सामान्य शब्दों में व्यक्तियों के किसी भी संगठन को समुदाय कह दिया जाता है, परन्तु समाजशास्त्र में समुदाय शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं होता। समुदाय के कुछ विशेष लक्षण होते हैं और यही लक्षण समुदाय व समाज को भिन्न करते हैं। समुदाय मनुष्यों का समूह है, जिसके सदस्य मिल–जुल कर एक दूसरे के हित में कार्य या पास्परिक सेवा करते हैं। सदस्यों में सामूहिक भावना पायी जाती है। समुदाय में व्यक्तियों का समूह किसी निश्चित भू–भाग पर साथ–साथ रहते हैं। उनका कोई एक उद्देश्य नहीं होता बल्कि वे सामान्य हितों के लिए कार्य करते हैं।

समुदाय का अर्थ

जब किसी समूह के सदस्य एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र से सम्बंधित हो, एक सामान्य जीवन व्यतीत करते हो और उनमे सामुदायिक भावना हो, उसे हम समुदाय कहते हैं। जब किसी समूह, चाहे छोटा हो या बड़ा, के सदस्य इस प्रकार साथ रहते हो कि उनका ऐसा रहना किसी विशेष योजना या स्वार्थ को लेकर ना हो, बल्कि उनके सामान्य जीवन की आधारभूत बातें एक हों तो उस समूह को हम समुदाय के नाम से जानते हैं।

समुदाय शब्द लैटिन भाषा के com तथा munis शब्दों से बना है।

com का अर्थ है साथ–साथ रहना तथा munis शब्द का प्रयोग सेवा या कार्य करने से लगाया जाता है। इस प्रकार समुदाय का अर्थ हुआ मिलजुल कर सेवा या कार्य करना। प्रत्येक समुदाय का एक निश्चित भू–भाग, नाम एवं उनकी एक समान्य संस्कृति होती है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यक्तियों का ऐसा समूह जिसमें परस्पर मिलकर रहने की भावना होती है तथा परस्पर सहयोग द्वारा अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं, समुदाय कहलाता है।

समुदाय की परिभाषा

समुदाय को विभिन्न विद्वानों द्वारा पारिभाषित किया गया है:

बोगार्डस के अनुसार, ''समुदाय एक सामाजिक समूह है, जिसमें हम की भावना की मात्रा हो तथा एक निश्चित क्षेत्र में रहता हो।''

मजूमदार के अनुसार, ''समुदाय किसी निश्चित भू क्षेत्र, क्षेत्र की सीमा कुछ भी हो, पर रहने वाले व्यक्तियों का समूह है जो सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं।''

बोगर्डस के अनुसार, ''एक समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशो में हम की भावना पायी जाती है तथा जो एक निश्चित भू भाग में रहते हैं।''

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''जब किसी छोटे या बड़े समूह के सदस्य साथ–साथ इस प्रकार रहते हैं कि वे किसी विशेष हित में ही भागीदार न होकर, सामान्य जीवन की मूलभूत दशाओं या स्थितियों में भाग लेते हों, तो ऐसे समूह को समुदाय कहा जाता है।''

डेविस के अनुसार, ''समुदाय एक सबसे छोटा क्षेत्रीय समूह है जिसके अंतर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं का समावेश हो सकता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समुदाय निश्चित भू भाग में रहने वाले व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जो आपस में हम की भावनाओं से बंधे होते हैं और एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करके अपने व्यापक

उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं, इसलिए अरस्तु ने समुदाय को परिवारों का योग कहा है।

समुदाय के आवश्यक तत्व

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समुदाय के आवश्यक तत्वों को अपने–अपने विचार से वर्णित किया है जो निम्न हैः

मैकाइवर एवं **पेज** ने समुदाय के दो तत्व बताये हैं – 1. स्थानीय क्षेत्र, 2. सामुदायिक भावना।

बोगार्डस ने समुदाय के तीन तत्व बताये हैं – 1. निश्चित भू भाग, 2. सामाजिक समूह, 3. हम की भावना।

किंग्सले डेविस ने समुदाय के तीन तत्व बताये हैं – 1. निश्चित भू–भाग, 2. व्यक्तियों का समूह, 3. सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का समावेश।

जॉनसन ने तीन प्रकार बताये हैं – 1. विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र, 2. मानव समूह, 3. हम की भावना।

समुदाय की विशेषताएं

समुदाय की विशेषताओं को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया हैः

1. **निश्चित भू भागः** समुदाय के लिए एक निश्चित भू भाग या निश्चित क्षेत्र का होना अति आवश्यक है। अधिकतर समुदाय एक निश्चित स्थान पर ही निवास करते हैं। एक निश्चित भू भाग पर रहने से उनमें एकता एवं संगठन काफी मजबूत होता है। समुदाय के सभी सदस्य निश्चित भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत ही अपना विकास करते हैं। वर्तमान में यातायात के साधनों में विकास होने के बावजूद समुदायके सदस्य अपने निवास से बंधे हुए हैं। किसी भी स्थान पर जाये मगर अपने समुदाय एवं अपने भू भाग की पहचान अपने साथ में बनाये हुए रखते हैं।
2. **सामुदायिक भावनाः** समुदाय के सदस्यों में सामुदायिक भावना पायी जाती है। सामुदायिक भावना ही समुदाय की नींव है।

समुदाय के सदस्य केवल अपने हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं सोचते बल्कि वे अपने सम्पूर्ण समुदाय के हित के लिए कार्य करते हैं। सामुदायिक भावना समुदाय के सभी सदस्यों को एक सूत्र में बांधने में मदद करती है। यह भावना अपनेपन का विकास करती है। सदस्यों में एक–दूसरे के प्रति जिम्मेदारी होती है।

3. **सामान्य जीवनः** समुदाय किसी विशेष उद्देश्य या कार्य की पूर्ति का साधन नहीं होता। इसमें सभी सदस्यों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। समुदाय के सभी सदस्य सामान्य जीवन व्यतीत करते हुए अपने समुदाय में एकता बनाये रखते हैं।
4. **विशिष्ट नामः** प्रत्येक समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है, जिसके द्वारा उसे पृथक जाना जाता है। समुदायों का नाम अधिकतर उसके स्थानीय भू भाग के नाम पर रखा गया होता है। समुदाय के सदस्य, चाहे दीर्घकालीन या अल्पकालीन समय के लिए, समुदाय से बाहर जाने पर भी अपने विशिष्ट नाम से ही पहचाने जाते हैं।
5. **सामान्य नियमः** समुदाय में नियमों की एक प्रचलित व्यवस्था होती है। इन नियमों से समुदाय के सदस्य प्रभावित एवं नियंत्रित रहते हैं। जिन्सबर्ग ने अपने सामान्य नियम को समुदाय की प्रमुख विशेषता माना है। सदस्यों के व्यवहार इन नियमों द्वारा बंधे हुए होते हैं। जब सभी सदस्यों का नियम एक ही होता है तो सदस्यों में समानता की भावना विकसित होती हैं। यह भावना समुदाय में पारस्परिक सहयोग की वृद्धि करती हैं।
6. **स्थायित्वः** समुदाय चिरस्थायी होता है। इसकी अवधि व्यक्ति के जीवन में लम्बी होती है। इसलिए समुदाय को एक स्थाई संगठन माना गया है। समुदाय एक बार बन जाने के बाद किसी भी प्रकार की असाधारण घटनाओं जैसे बाढ़, भूकंप, तूफान या आकाल आदि से पूर्णतः नष्ट नहीं होते। समुदाय साधारणतः बने ही रहते हैं। कुछ

समय तक प्रभावित होने के बाद भी पुनः समुदाय का निर्माण हो जाता है।

7. **मूर्तताः** समुदाय की एक विशेषता है कि यह मूर्त है, क्योंकि यह एक संगठित जन–समूह की ओर संकेत करता है। समुदाय का अवलोकन एवं निरीक्षण किया जा सकता है। समुदाय के नियम, सामान्य जीवन एवं स्थायित्व सभी समुदाय को मूर्तता प्रदान करते हैं।

8. **स्वतः जन्मः** समुदाय को विचारपूर्वक किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए निर्मित नहीं किया जाता है। इसका विकास स्वतः होता है। जब कुछ लोग एक ही स्थान पर रहने लगते है तो उनमें अपनेपन की भावना का जन्म होता है। इससे समुदाय के जन्म एवं विकास में सहायता मिलती है।

9. **आत्म निर्भरता की भावनाः** एक समुदाय में निवास करने वालों की समस्त आवश्यकताएं उनके समुदाय में ही पूर्ण हो जाती है। सामान्य जीवन एवं सामान्य आवश्यकताएं होने के कारण सभी आपस में समुदाय के भीतर ही अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर आत्मनिर्भर रहते हैं। सामुदायिक भावना होने के कारण सदस्य एक–दूसरे के हितों के लिए कार्य करते हैं।

10. **अनिवार्य सदस्यताः** समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। व्यक्ति जन्म से ही अपने समुदाय का सदस्य बन जाता है। सामान्य जीवन के कारण समुदाय से अलग रहकर व्यक्ति की आवश्यकताएं पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि समुदाय में आपसी निर्भरता पायी जाती है। समुदाय की सदस्यता आजन्म रहती है।

11. **व्यापक उदेश्य एवं सामान्य जीवन** : जीवन के अनेक पक्षों को लेकर समुदाय में व्यक्ति एक–दुसरे के भागीदारी बनते है। उनके स्थान पर साथ–साथ रहने से उनका जीवन एक सामान रहता है।

उनको उद्देश्य सामान हितो को लेकर सम्बद्ध होता है। एक मानान रीति– रिवाज एक से नियम एक भाषा तथा एक से उत्सव व संस्कार साधारणतः एक समुदाय में देखने को मिलते है। समुदाय का उद्देश्य व्यापक होता है।

12. **व्यक्तियों का समूहः** समुदाय किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों का समूह होता हैं। समुदाय का निर्माण एक व्यक्ति से नही किया जा सकता है। समुदाय के निर्माण के लिए व्यक्तियों के समूह का होना आवश्यक होता है।
13. **एक सामान्य संस्कृतिः** समुदाय की एक सामान्य संस्कृति है, जिसे सभी सदस्य स्वीकार करते है। उनकी संस्कृति समुदाय से बाहर उनको नाम एवं पहचान देती है। एक समुदाय के अंदर जितने भी सदस्य हो सभी समुदाय की संस्कृति का पालन करते है। यह संस्कृति नियमों के निर्माण मदद करती है।
14. **समानताः** एक समुदाय के सदस्य के जीवन में समानता पाई जाती है। उनकी भाषा, रीति–रिवाज, रूढि, प्रथाएं आदि में समानता होती है। सभी समुदायियक परम्पराएं एवं नियम सदस्यों द्वारा सामुदायिक कल्याण एवं विकास के लिए बनाए जाते है। इसलिए समुदाय में समानता पाया जाना स्वाभाविक है। समुदाय में सामन्य नियम, अनिवार्य सदस्यता, सामान्य जीवन एवं समुदायिक भावना के समान होने के कारण समी सदस्यों के कारण सभी सदस्यों में समानता की भावना होती है।

जिसमें सदस्य किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में आपस में मिल जुलकर निवास करते हैं। समाज की विशेषताएं एवं समुदाय के आवश्यक तत्वों में समानता है, जो समुदाय को समाज से पृथक करता है।

समुदाय के प्रकार

समुदाय के दो प्रकार बताएं गए हैंः 1. ग्रामीण समुदाय, 2. नगरीय समुदाय।

1. **ग्रामीण समुदायः** ग्रामीण समुदाय एक ऐसा समुदाय रहा हैं, जो कृषि पर आधारित होता हैं। प्रारंभिक काल से ही मानव जीवन का निवास स्थान ग्रामीण समुदाय रहा है। ग्रामीण समुदाय के लोग एक ही भौगोलिक क्षेत्र में एक साथ परस्पर एक–दूसरे पर निर्भर रहते हैं। व्यावसायिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होते हैं। ग्रामीण समुदाय में एक जैसी संस्कृति, एक जैसे खानपान और सामाजिक नियम होते हैं। आज औद्योगीकरण, शहरीकरण का प्रभाव ग्रामीण समुदाय पर स्पष्ट देखने को मिल रहा है। लेकिन आज भी शहरी दूषित वातावरण से प्रभावित लोग ग्रामीण पवित्रता एवं शुद्धता को देख ग्रामीण समुदाय में बसने के लिए प्रोत्साहित हो रहे हैं।

ग्रामीण समुदाय की विशेषताएं

ग्रामीण समुदाय की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो अन्य समुदायों में नहीं पायी जाती है। ग्रामीण समुदाय की निम्न विशेषताएं हैं:

1. **कृषि व्यवसायः** ग्रामीण समुदाय में रहने वाले अधिकांश लोगों का व्यवसाय कृषि होता है। खेती करना और कराना उन्हें अपने परिवार के बुजुर्गों द्वारा प्राप्त व्यवसाय होता है। कृषि के द्वारा ही वे आत्मनिर्भर बनते हैं। ग्रामीण समुदाय में और भी व्यवसाय जैसे लुहार, कुम्हार, सुनार या अन्य कारीगर होते हैं, परन्तु सभी के पास कृषि योग्य खेती उपलब्ध रहती है और वे कृषि व्यवसाय में संलग्न होते हैं।
2. **संयुक्त परिवारः** ग्रामीण समुदाय में संयुक्त परिवार का अपना एक विशेष महत्व है। परिवार का एक मुखिया होता है जो पूरे परिवार के हितों की रक्षा एवं आवश्यकता की पूर्ति करता है। आपातकाल में परिवार के सदस्य एक दूसरे की मदद करते हैं।
3. **सामुदायिक भावनाः** ग्रामीण समुदाय में सामुदायिक भावना पायी जाती है। ग्रामीण समुदाय के सदस्य व्यक्तिगत निर्भरता की अपेक्षा एक स्थान पर सामुदायिक निर्भरता पर अधिक विश्वास करते हैं।

गांव के जितने भी घर–परिवार होते हैं सभी आपस में मिलकर रहते हैं व कार्य करते हैं। इस समुदाय में एक सीमित क्षेत्र में बसने के कारण सदस्यों की समीपता बढ़ जाती है जिसे सामुदायिक भावना का नाम दिया गया है।

4. **प्रकृति से घनिष्ठ संबंधः** ग्रामीण समुदाय में मुख्य व्यवसाय कृषि होने के कारण ग्रामीण सदस्यों की प्रकृति से घनिष्ठता बढ जाती है। खेत का सीधा संबंध प्रकृति से होता है। ग्रामीण जीवन प्रकृति पर ही आश्रित होता है।
5. **जातिवाद व धर्म का अधिक महत्त्वः** ग्रामीण समुदाय में लोगों की अपनी जाति एवं धर्म में अटूट श्रद्धा पायी जाती है। ग्रामीण अपने–अपने धर्म व जाति के बड़प्पन में ही अपना सम्मान समझते हैं। ग्रामीण समुदाय में जातिगत पंचायतों का निर्माण होता है।
6. **सरल व सादा जीवनः** ग्रामीण समुदाय के अधिकाधिक सदस्यों का जीवन सरल व सामान्य होता है। ग्राम वासी दिखावे व कृत्रिमता से दूर रहते हैं। उनका रहन–सहन, खान–पान, वेशभूषा सभी सरल व सादा होता है। गांव का शिष्टाचार, आचार–विचार सरल एवं वास्तविक होता है।
7. **प्राथमिक सम्बन्धओं की प्रधानताः** ग्रामीण समुदाय में प्राथमिक संबंधों की प्रधानता रहती है। ग्रामीण लोग अपने संबंधों को गहराई से निभाते हैं। उनके लिए सम्बन्ध ऊर्जा के सामान होता है।
8. **सामाजिक गतिशीलता का अभावः** ग्रामीण समुदाय में सामाजिक गतिशीलता का अभाव पाया जाता है। ये लोग अपनी वर्तमान परिस्थिति में ही संतुष्ट रहते हैं। कृषि कार्य में किसी पद का विशेष महत्व नहीं रहता है। यही कारण है कि ग्रामीण लोग वर्तमान में ही खुश रहना जानते हैं।
9. **परम्पराओं पर विश्वासः** ग्रामीण लोग अपनी पुरानी परम्पराओं व रुढियों में विश्वास करते हैं। उनका जीवन सामुदायिक व्यवहार,

धार्मिक नियमों एवं परम्पराओं से प्रभावित रहता है। परम्पराओं से बाहर जाना उनके लिए अनुचित माना जाता है।

10. **भाग्यवादिता एवं अशिक्षाः** ग्रामीण समुदाय में शिक्षा का प्रचार–प्रसार अभी तक कम है जिसके कारण लोग अपने भाग्य पर अधिक विश्वास करते हैं। शिक्षा के अभाव में ग्रामीण लोग अनेकों अंधविश्वासों एवं कु–संस्कारों के शिकार होते हैं। अपनी हितों को भी भाग्य भरोसे छोड़ देते हैं।

2. नगरीय समुदाय

नगरीय समुदाय का अर्थ नगरीय शब्द नगर से बना है। नगरीय समुदाय में गतिशीलता अधिक दिखाई देती है। ये समुदाय विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगे रहते हैं। यह समुदाय आकार में वृहद् होता है। नगरों में जनसंख्या अधिक एवं विभिन्न प्रकार की भिन्नताएं लोगों में दिखाई पड़ती है। यहां श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण स्पष्ट दिखाई पड़ता है। नगरों के विकास से पहले लोग गांव में ही रहा करते थे। नगरों का विकास सबसे पहले भारत और मिश्र में हुआ। भारत में जिस स्थान पर एक लाख से अधिक लोग निवास करते हैं उसे नगर माना जाता है।

नगरीय समुदाय की विशेषताएं

नगरीय समुदाय को स्पष्ट करने के लिए उनकी विशेषताओं को स्पष्ट करना आवश्यक है। जो नगरीय समुदाय के प्रत्येक पक्ष को चित्रित कर सके जो निम्न हैः

1. **जनसंख्या की बहुलताः** नगरों में जनसंख्या की बहुलता अधिक होती है। रोजगार की तलाश में गांव से लोग नगरों में आते हैं और नगरों की जनसंख्या में वृद्धि हो जाती है। जनसंख्या की अधिकता के आधार पर नगरों को भी विभिन्न श्रेणियों में बांटा गया है जैसे नगर, महानगर, कस्बा इत्यादि।
2. **व्यवसायों की बहुलता एवं विभिन्नताः** नगरों में विभिन्न प्रकार के व्यवसाय संचालित होते हैं, जिसे करने के लिए भिन्न–भिन्न

योग्यता वाले लोग रहते हैं। जिस कारण विभिन्नताएं अधिक होती है। नगर औद्योगिक उत्पादन एवं वितरण का केंद्र होता है एवं विभिन्न प्रकार के व्यवसाय एवं विभिन्न प्रकार के लोग होते हैं।

3. **सामाजिक गतिशीलताः** नगरों में सामाजिक एवं भौगोलिक गतिशीलता अधिक पाई जाती है। पद एवं प्रस्थिति में बदलाव होता रहता है। नगरों में लोग ऊँचा स्थान पाने के लिए गतिशील रहते हैं। यहां के लोगों में स्थान के प्रति लगाव कम पाया जाता है। नगरों में धर्म परिवर्तन आसानी से हो जाता है।
4. **कृत्रिमताः** नगरों में लोगों के जीवन का स्वरूप कृत्रिम एवं बनावटी होता है। वे दिखावे पर अधिक विश्वास करते हैं। लोगों के आचार –विचार, रहन–सहन सभी समय के साथ परिवर्तित होते रहते हैं।
5. **श्रम–विभाजनः** नगरीय समुदाय में अनेक व्यवसाय वाले लोग होते हैं। कार्य की गुणवत्ता का महत्व अधिक होता है। विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने के लिए विभिन्न प्रकार की दक्षता व क्षमता वाले लोगों की जरूरत होती है। इसलिए लोगों के बीच कार्य के बंटवारे और विशेषीकरण पर विशेष बल दिया जाता है।
6. **एकांकी परिवार की महत्ताः** नगरीय समुदाय में उच्च जीवन स्तर की आकांक्षा के फलस्वरूप संयुक्त परिवार की जिम्मेदारियां वहन करना एक कठिन कार्य होने लगा है। परिणामस्वरूप एकाकी परिवार का चलन बढ़ने लगा है। लोग बुजुर्गों को गांव में छोड़ शहरों में पलायन करने लगे हैं।
7. **औपचारिक सम्बन्धः** नगरीय समुदाय में औपचारिक सम्बन्ध का बाहुल्य होता है। देखा गया है कि शहरी जीवन एवं कार्य की व्यस्तता के कारण सम्बन्ध में औपचारिकता आ गयी है। प्राथमिक सम्बन्ध की अपेक्षा द्वितीयक संबंधों में वृद्धि हो रही है। ये सभी बढ़ती जनसंख्या और सामाजिक विभिन्नता के कारण हो रहे हैं।
8. **अंधविश्वासों में कमीः** नगरीय समुदाय में विकास के साधन एवं शिक्षा का प्रसार अधिक होने के कारण अंधविश्वासों में कमी आ रही

है। लोग नए आचरण को अपनाने लगे हैं। किसी भी कार्य को बोध एवं समझ के अनुसार करते हैं न कि परम्परानुसार।

9. **व्यक्तिवादिता:** नगरों में सामूहिक एवं सामुदायिक जीवन की अपेक्षा व्यक्तिवादिता अधिक पायी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति स्वय की चिंता अधिक करता है। शहरी व्यक्ति यह सोचता है कि मै प्रगति करके ही आगे बढ़ सकता हूँ इसमें मेरे समुदाय की हिस्सेदारी नहीं है।

10. **वर्गवाद:** नगरीय समुदाय में वर्गवाद अधिक देखने को मिलता है। समुदाय हो या समाज विभिन्न वर्गों में बंटा हुआ रहता है। जैसे धनी वर्ग, माध्यम वर्ग, उच्च वर्ग आदि। पद भी विभिन्न वर्ग में बंटे हुए होते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने कस्बा एवं क्षेत्र को भी समुदाय के प्रकार में शामिल किया है।

कस्बा

कस्बा वह है जिसे सरकार कानूनी या सरकारी जनगणना के द्वारा मान्यता प्रदान करती है। भौगोलिक दृष्टि से कस्बे में वह सम्पूर्ण क्षेत्र शामिल है, जो सभी दिशाओं में उस सीमा तक फैला होता है, जहाँ तक कृषि क्षेत्र, जंगल तथा अन्य नगरीय भूमि कस्बे के फैलाव को अलग न करती हो। कस्बा नगर से छोटा होता है। कस्बे में व्यापार एवं उद्योग की प्रधानता होती है। जनसंख्या 20000 तक होती है। कस्बा वह कहलाता है जहाँ 75 प्रतिशत जनसँख्या कृषि के अतिरिक्त कार्यों में लगी हो। जहां जनसंख्या का घनत्व 400 प्रति व्यक्ति किलोमीटर हो। जो नागरीय सुविधाएँ एवं विशेषताएं रखता हो, कस्बे के रूप में जाना जाता है।

क्षेत्र

हेगेट के अनुसार, ''पृथ्वी तल का वह भाग जो अपने विशेष लक्षणों के कारण अपने सीमावर्ती अन्य भागों से भिन्न होता है, क्षेत्र या प्रदेश कहलाता है।''

इस प्रकार क्षेत्र भौतिक एवं मानवीय संबंधों की समरूपता है। क्षेत्र की स्थिति विशिष्ट होती है। क्षेत्र परिवर्तनशील भी होते हैं। क्षेत्र अन्य क्षेत्रों से भिन्न होता है। क्षेत्र का विभाजन भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आधार पर किया जा सकता है। भारत में आबादी क्षेत्र भी महत्वपूर्ण होते हैं। क्षेत्र में भौतिक तत्व (भू–रचना, स्थल विन्यास, जलवायु एवं वनस्पति) तथा जीवधारियों (पशु एवं मानव) में विशेष प्रकार का सम्बन्ध होता है। क्षेत्र गांव एवं शहर तथा कस्बा से अलग अपहचान लिए होता है।

इस प्रकार समुदाय आरम्भ से चलता आ रहा एक सामाजिक संगठन है जो समाज से आंशिक रूप से भिन्न है। समुदाय समाजशास्त्र की मूल रचना अथवा प्राथमिक अवधारणा मानी जाती है। समुदाय को समझे बिना समाजशास्त्र को समझना कठिन है। हम समाज के सदस्य तो है ही मगर किसी न किसी समुदाय के भी सदस्य हैं।

समाज और समुदाय में अंतर

व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति एवं सामाजिक संबंधों के परिणामस्वरूप विकसित होने वाले दो संगठन हैं समाज और समुदाय। मानव समाज में ही समुदाय का विकास होता है और सामाजिक संबंधों की व्यवस्था को समाज कहते हैं। कुछ समाजशास्त्रियों का मानना है कि समुदाय का गठन समाज से पहले हुआ है। फिर भी समाज एक व्यापक धारणा है और समुदाय एक संकुचित संगठन है। समाज और समुदाय में कुछ समानताएं होते हुए भी कुछ मौलिक अंतर हैं, जैसेः

1. समुदाय एक मूर्त अवधारणा है और समाज का स्वरुप अमूर्त है।
2. समुदाय व्यक्तियों का समूह होता है, और समाज सामाजिक संबंधों का जाल माना जाता है।
3. समुदाय का क्षेत्र सीमित होता है, जबकि समाज का क्षेत्र विस्तृत होता है। इसी कारण एक समाज में अनेकों समुदाय होते हैं।
4. समुदाय के लिए निश्चित भू–भाग अनिवार्य हैं किन्तु समाज के लिए निश्चित भू–भाग अनिवार्य नहीं है।

5. समुदाय में सामूहिक भावना पाई जाती है और समाज तर्क एवं बुद्धि पर आधारित होता है।
6. समुदाय सामान्य जीवन पर आधारित होता है। लेकिन समाज में समनताएँ एवं विभिन्नताएं दोनों पायी जाती हैं।
7. समुदाय का एक विशिष्ट नाम होता है, लेकिन समाज का कोई विशिष्ट नाम नहीं होता है।
8. समुदाय में सहयोग की भावना अनिवार्य आवश्यकता है, समाज में सहयोग के साथ संघर्ष भी पाया जाता है।
9. समुदाय में विशिष्ट संस्कृति और सामाजिक विरासत देखने को मिलते है, किन्तु समाज में अनेकों संस्कृतियां पायी जाती है।
10. समुदाय अपने ही उद्देश्यों की पूर्ति करता है। समाज के उद्देश्य समाज की भांति विशाल होते हैं।
11. समाज सार्वभौमिक होता है और समुदाय क्षेत्रीय होता है।

अंत में कह सकते है कि समुदाय सामाजिक जीवन के उस क्षेत्र को कहते हैं, जिसे सामाजिक सम्बन्धता अथवा सामंजस्य की कुछ मात्रा द्वारा जाना–पहचाना जाता है। समुदाय में प्रत्येक परिवार अपनी आवश्यकता पूरी करने के साथ ही दूसरे परिवारों की सहायता भी करता है। समुदाय में आर्थिक निर्भरता को बढ़ावा मिलता है। समुदाय अपने सदस्यों में सामाजिक समरसता और सामुदायिक भावना को बढ़ावा देता है।

––==00==––

संस्था

भूमिका

मनुष्य की इच्छाशक्ति बहुत ही प्रबल होती है और आवश्यकताएं भी भिन्न–भिन्न होती है, मनुष्य इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही समूह में रहना स्वीकार करता है। और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयासरत रहता है। अति प्राचीनकाल में मनुष्य का जीवन घुमंतू रहा जिससे आवश्यकताएं सीमित या ये कहे नहीं के समतुल्य थी, मात्र अपनी भूख मिटाने के लिए ही विभिन्न प्रयास करता रहा। परंतु समय बदलने के साथ ही मनुष्य की विचार शक्ति में भी बदलाव आया और यही बदलाव सामाजिक परिवर्तन का कारक बना। सामाजिक परिवर्तन ने विकास को गति प्रदान की और विकास ने आवश्यकताओं में वृद्धि की और मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न पद्धतियों का निर्माण किया। पद्धतियों ने ही कालांतर से संस्थाओं का रूप ले लिया है। कोई विचार जब मनुष्य के मन में आता है तो वह उसी विचार के अनुरूप कार्य करता है और यही कार्य कुछ समय पश्चात् उसकी आदत बन जाती है। यही आदत लंबे समय तक बने रहने के कारण क्रिया में शामिल हो जाती है जो व्यवहार में झलकने लगती है। यदि यह व्यवहार सकारात्मक रूप ले ले तो पूरा समूह इस आदत एवं व्यवहार को अपना लेता है। कुछ समय बीत जाने पर यही व्यवहार जन–रीति बन जाती है, एक बड़े समूहों के द्वारा जब जनरीति का प्रयोग बार–बार किया जाता है और आने वाली पीढ़ी को भी हस्तांतरित किया जाए तो यह जनरीति प्रथा बन जाती है यह प्रथा जनमानस में इस प्रकार व्याप्त हो जाती है कि इसे न मानने वालों के लिए दण्ड का प्रावधान भी रखा जाता है यदि प्रथा का पालन समूह के लिए कल्याणकारी हो तो यह प्रथा रूढ़ि का रूप धारण कर लेती है और यह रूढ़ि अपने आसपास एक मजबूत ढ़ाचे का निर्माण कर लेती है। यही ढ़ाचा लम्बे समय तक बने रहने के कारण संस्था का रूप ले लेता है। इस प्रकार व्यक्ति के विचार जो आदत बन व्यवहार में आते हैं, यही व्यवहार समूहों द्वारा अपनाएं जाने पर जनरीति और बार–बार उपयोग किए जाने

तथा पीढ़ी को हस्तांतरित किये जाने के बाद प्रथा बन जाते हैं। प्रथा के पीछे जनशक्ति का हाथ होने के कारण तथा इसका पालन उपयोगी एवं कल्याणकारी हो तो वह रूढ़ि बन जाती है जो अपने आसपास एक ढांचे का निर्माण कर संस्था का रूप ले लेता है। यही ये किसी संस्था का क्रमिक विकास शुरू होने लगता है।

हमारे समाज में चाहे तो शहरी हो या ग्रामीण विभिन्न समाजिक संस्थाएं देखने को मिलती है इन संस्थाओं के द्वारा ही हम समाज को पूर्ण रूपेण समझने में सफल होते है । संस्थाएं ही है जो समाज को भीड़ में अलग करती है। संस्था ही मनुष्य के जीवन को सुव्यवस्थित कर सामाजिक रूप प्रदान करती है एवं समाज की आवश्यकताओं को पूरा करती है। संस्थाएं ही व्यक्ति की प्रस्थिति अधिकार एवं दायित्वों का निर्धारण कर जीवन को आधार प्रदान करती है। संस्थाओं की अपनी विशेषता एवं प्रकृति होती है, प्रकृति में बदलाव लाने से संस्था के मूल तत्वों में परिवर्तन आ जाता है, जो समाज के लिए कभी हितकर नहीं हो सकता है यही कारण है कि किसी भी संस्था को बदलना एक जटिल कार्य है। वर्तमान के सामाजिक परिवर्तन हमारे संस्थाओं की प्रकृति में बदलाव के कारण हो सकते है।

सामाजिक संस्था का अर्थ

सामाजिक समूह की कार्य प्रणाली के स्थापित स्वरूप या व्यवस्था को हम संस्था कहते हैं। किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कार्य विधियों या नियमों का निर्माण कर कुछ अधिकार और दायित्वों का एक ढ़ाचा होता है। जिसे सभी लोगों द्वारा पालन किया जाता है उसे ही संस्था कहा जाता है। प्रत्येक संस्था की पहचान के लिए कोई भौतिक या अभौतिक प्रतीक भी बनाये जाते है। सामाजिक संस्था व्यक्तिगत नहीं होती, ये समूह या सम्पूर्ण समुदाय के लिए निर्मित होती है। इस प्रकार सामाजिक संस्था का अर्थ उन मानदण्डों का एक संगठित प्रणाली है जो समान्यतः समाज की बुनियादी आवश्यकताओं तथा विशेषतः जीवन को संतुष्टि प्रदान करती हो समाज के हित को ध्यान में रखा जाता है।

सामाजिक संस्था की परिभाषाएं

सामाजिक संस्था के अर्थ को समझने के लिए निम्न परिभाषाओं का अध्ययन किया जा सकता हैः

1. **मैकाइवर,** ''संस्थायें सामूहिक व्यवहार विधि की दिशाओं या स्थापित प्रतिमानों को कहते हैं।''

2. **बोगार्डस** लिखते है, ''एक सामाजिक संस्था समाज की वह संरचना होती है जो मुख्य रूप से सुव्यवस्थित विधियों द्वारा मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित की जाती है।''

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्थाओं के द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है यह व्यवहार में परिलक्षित होती है। समाज की हित के लिए विभिन्न प्रतिमानों को धारण करती है। अंत में कह सकते है कि सामाजिक संस्थाएं विधि सम्मत एवं विभिन्न प्रतिमानो का एक ढांचा है। सामाजिक समूह की कार्यप्रणाली के स्थापित स्वरूप या व्यवस्था को हम संस्था कहते है।

संस्था की विशेषताएं

सामाजिक संस्था के निर्मित होने में कुछ मुख्य आवश्यक तत्व शामिल होते है जो संस्था की विशेषताओं को दर्शाते है। इन्हीं विशेषताओं के कारण संस्था समाज के हित के अनुरूप कार्य करती है। संस्था की विशेषताओं को निम्न बिन्दुओं द्वारा दर्शाया गया हैः

1. **निश्चित उद्देश्यः** प्रत्येक संस्था के कुछ उद्देश्य होते है। उद्देश्य के अभाव में संस्था का अस्तित्व संभव नहीं है। संस्था चाहे धार्मिक हो, राजनितिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हो या फिर मनोरंजनात्मक संस्था हो सभी के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ही संस्था का निर्माण किया जाता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्था में विभिन्न विधिक एवं आयामों को स्थान दिया जाता है। जिससे कि संस्था के सभी उद्देश्यों को हासिल किया जा सके।

2. **आवश्यकताओं की पूर्तिः** संस्था ही मानव के सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। क्योंकि आवश्यकता ही संस्था को जन्म देती है। जब मनुष्य की आवश्यकताएं नही थी या कम थी तब किसी भी प्रकार की संस्था का उदय नहीं हुआ था जब से मानव जीवन में विभिन्न आवश्यकताओं ने जन्म लिया तभी से संस्था का उदय माना गया है। मनुष्य की आवश्यकताएं उनके विचारों से परिलक्षित होती है। यही विचार आगे चल के संस्था का निर्माण करने में सहायक होती है। इसलिए संस्थाएं ही मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम होती है।
3. **निश्चित नियमः** प्रत्येक संस्था कुछ निश्चित नियमों को अपनाती है और नियम ही प्रत्येक संस्था के कार्यप्रणाली और प्रत्येक संस्था को नियमों से पृथक करते हैं। संस्था के नियम ही संस्था से जुड़े लोगों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं तथा संस्था के उद्देश्यों को पूर्ण करने में मददगार रहते हैं। किसी भी संस्था के लिए नियम उस संस्था की आत्मा होती है। जो अपने से जुड़े हुये लोगों को एक सूत्र में बांधकर रखती है।
4. **संस्था अमूर्त होते हैः** संस्था अमूर्त रूप में हमारे समाज में उपस्थित रहती है जो केवल विचारों एवं विधिक के रूप में जुड़े होने का अनुभव कराती है। संस्था का कोई आकार या रूप नहीं माना गया है, ये मात्र विचारों एवं आचारों में बंधे होने का अहसास कराती है जो मानव जीवन को नियंत्रित कर मार्गदर्शन देने का कार्य करती है।
5. **प्रतीकः** प्रत्येक संस्था का कोई न कोई प्रतीक अवश्य होता है यह प्रतीक भौतिक या अभौतिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। प्रतीक ही किसी संस्था की पहचान एवं विशेषता को दर्शाता है और प्रतीक ही एक संस्था को दूसरी संस्था से अलग करता है। प्रतीक उस संस्था के नाम एवं पहचान का उल्लेख कराता है।
6. **धारणाः** धारणा संस्था का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है इस धारणा में

समाजिक हित तत्व रूप में विद्यामान रहता है। संस्था का विकास ही किसी धारणा या विचार से होता है और समूह के अस्तित्व की रक्षा के लिए इसको अपनाया जाता है। धारणा में जनसमुदायों की विचार शक्ति समाहित होती है जो जन कल्याण के लिए प्रेरित रहती है। इस प्रकार से धारणा का बनना भी किसी संस्था के निर्माण की पहली नींव मानी जाती है।

7. **संस्था तुलनात्मक रूप से स्थायी होती हैः** संस्था समाज द्वारा स्वीकृत एवं समाज द्वारा स्थापित होती है। इसमें समूह का विगत अनुभव एवं कल्याण का तत्व निहित होता है। या हम यह कहसकते है कि हम सामाजिक जीवन में संस्थागत व्यवहार के अभ्यस्त हो जाते है, जो बार–बार करने से आदत बन जाती है। आदत न तो जल्दी बनती है और न ही जल्दी छूटती है। इसी प्रकार से कोई विश्वास एवं व्यवहार की प्रणाली संस्थागत तभी होती है जब वह किसी समूह द्वारा स्वीकार की गई होती है और तुलनात्मक रूप से कार्य करती है।

8. **स्वीकृती एवं अधिकारः** संस्थाएं समूह के द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। इनका उल्लघंन नहीं किया जा सकता है इसके लिए यह आवश्यक है कि समूह इन्हें कुछ अधिकार दे देता है जिसमें संस्थाएं अपने उद्देश्यों को पूरा करती है। संस्थाओं को समूह एवं जनमानस द्वारा संस्था को जन कल्याण के लिए स्वीकृती दी जाती है एवं अधिकार प्रदान किया जाता है। जिसमें संस्थाएं नियमों के उल्लंघन करने वालो को दण्डित भी कर सकती है और नियंत्रित भी कर सकती है।

9. **संस्था की लिखित एवं अलिखित पंरम्पराएं होती हैः** संस्था को व्यवस्थित करने व स्थायीत्व प्रदान करने की दृष्टि से परम्परा का अधिक महत्व होता है परम्परा किसी संस्था से संबंधित प्रतीकों, उपकरणों सदस्यों के व्यवहार, प्रतीमानो तथा मनोवृत्तियों को परस्पर संयुक्त भी करती है ये परम्पराएं या प्रतीक लिखित एवं

अलिखित दोनों प्रकार की होती है। जिसे हम भौतिक और अभौतिक रूप में स्वीकार करते है ये परम्पराएं किसी भी संस्था की पहचान होती है।

10. **ढांचाः** बिना उचित ढ़ांचे के कोई भी संस्था विकसित नहीं हो सकती है। ढांचे से तात्पर्य उन नियमों एवं कार्यप्राणाली से है जिसके द्वारा संस्था का कार्य चलता है तथा संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। यह ढांचा मानव निर्मित एवं मानव स्वीकृत होता है, जो अमूर्त रूप से कार्य करता है ये नियम और कार्यप्राणाली का स्वरूप परिस्थितियों के साथ परिवर्तित भी होता रहता है। परंतु यह परिवर्तन भी समाज के हित के लिए होते है। जो जनमानस को मान्य होते है।

संस्था के कार्य

संस्था के बहुत से कार्य है जो समाज एवं राज्य को व्यवस्थित रूप में संचालित करते हैं। कुछ कार्यों का विवरण निम्न हैः

1. संस्था नियत्रणों के साधनों की व्यवस्था करती है।
2. संस्था व्यक्ति को कार्य एवं पद प्रदान करती है।
3. संस्था मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।
4. संस्था सदस्यों के व्यवहारों में अनुरूपता लाती है।
5. संस्था व्यक्ति के कार्य को सरल बनाती है।
6. संस्था संस्कृति की एक वाहक होती है।
7. संस्था सामूहिक जीवन में व्यक्ति का मार्ग दर्शन करती है।
8. संस्था सामाजिक परिवर्तन में सहायक होती है।
9. संस्था समाज की मागों को पूरा करती है।
10. संस्था सामाजिक प्रक्रियाओं पर नियंत्रण करती है।

सामाजिक संस्था के प्रकार

भारतीय समाज में विभिन्न सामाजिक संस्थाएं निर्मित है। जो मानव

जीवन को विकास एवं दिशा प्रदान कर जीवन को सहज तथा उपयोगी बनाता है। कुछ संस्थाएं आदिकाल से चलती आ रही हैं तो कुछ संस्थाएं आधुनिक काल की देन है जो समय परिस्थितिवश निर्मित की गयी हैं जिनका उद्देश्य समाज को सुचारू रूप से चलाना एवं गतिमान रखना है। जिसमें सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो सके एवं सामाजिकता भी कायम रहें।

वर्तमान में जो सामाजिक संस्थाएं विद्यमान है वो निम्न हैः

1. परिवार 2. विवाह 3. धर्म 4. नातेदारी
5. शिक्षा 6. अर्थव्यवस्था 7. राजव्यवस्था 8. मनोरंजन

संस्था के प्रकार

संस्था के विभिन्न प्रकार है जिसे निम्नांकित बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता हैः

1. सामाजिक संस्था
2. आर्थिक संस्था
3. राजनितिक संस्था
4. धार्मिक संस्था
5. शैक्षणिक संस्था

उपरोक्त संस्थाओं को संचालन के आधार पर निम्न रूप में बांटा गया हैः

1. सामाजिक – परिवार, विवाह, नातेदारी
2. आर्थिक – अर्थव्यवस्था
3. राजनितिक – राजव्यवस्था
4. धार्मिक – धर्म
5. मनोरंजनात्मक – मनोरंजन

परिवार

परिवार एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो आपसी सहयोग व

समन्वय से क्रियान्वित होती है और जिसके समस्त सदस्य आपस में मिलकर अपना जीवन प्रेम स्नेह एवं भाईचारा पूर्वक निर्वाह करते हैं।

परिवार मानव जीवन के विकास के साथ ही जुड़ा है एक प्रकार से हम यह स्वीकार कर सकते है कि परिवार निर्माण के साथ ही समाज एवं समुदाय का आविर्भाव हुआ। परिवार के साथ ही विभिन्न संस्थाओं का जन्म हुआ। परिवार का अस्तित्व आदि–समाज से लेकर आधुनिक समाज तक बना हुआ है। परिवार ही वह कड़ी है जो सम्पूर्ण विश्व को निरतंरता प्रदान करने का सामर्थ्य रखती है। एक बालक के लिए परिवार ही प्रथम संस्था एवं प्रथम समुदाय होता है । जहां बालक का जन्म एवं पालन पोषण उचित रूप से किया जाता है। परिवार पति–पत्नि एवं उनके बच्चों से निर्मित संस्था है जहां पति या पत्नि के रक्त संबंधी भी परिवार का सदस्य हो सकते है।

विवाह

विवाह वह आधार स्तंभ है जिसके द्वारा मानव एवं समाज का अस्तित्व बना हुआ है। विवाह एक सामाजिक संस्था और सामाजिक व्यवस्था दोनों ही है। समस्त मानव जाति में हजारों वर्षों के अनवरत प्रयास संघर्ष एवं उपलब्धियों का ही परिणाम है विवाह नामक संस्था का उदय होना। समूह में रहने के लिए विवाह आवश्यक है वैसे तो विवाह के बहुत से आधार है परंतु धर्म को मुख्य आधार माना गया है। भारतीय समाज में विवाह अपनी विशिष्ट पहचान बनाये हुए है। हमारी परम्परा में भी विवाह एक धार्मिक और सामाजिक संस्था के रूप में उल्लेखनीय है। विवाह एक स्त्री एवं एक पुरूष का आपस में सहयोग भावना एवं समर्पण का उत्तम उदाहरण है। विवाह दो परिवारों का आपसी संबंध है जिसमें किसी और का हस्तक्षेप नहीं होता है। विवाह के बाद एक स्त्री एवं एक पुरूष पति–पत्नि के रूप में पहचाने जाते है, और बालक का जन्म एवं उसका पालन पोषण का दायित्व उनके लिए सामाजिक दायित्व की श्रेणी में आने लगता है।

धर्म

धर्म की उत्पत्ति को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान धर्म को अलौकिक शक्ति मानते है। तो कुछ अदृश्य शक्तियों पर विश्वास, कुछ विद्वान धर्म को पवित्रता से जोड़ते हैं तो कुछ मनोवृत्ति से। धर्म शब्द बहुत ही व्यापक है। धर्म को मानने वाले इसके मूल तत्वों को भी अपने जीवन में स्वीकार करते है। प्रत्येक परिवार का एक धर्म होता है, धर्म कुछ क्रियाओं से आबद्ध होता है। ये क्रियायें अपने–अपने धर्म का प्रचार प्रसार करने के लिए भी प्रयुक्त की जाती है। साधारण शब्दों में धर्म धारण करने की एक प्रक्रिया है जिसमें अपने–अपने धर्म के प्रति विश्वास आदर एवं श्रद्धा की भावना समाहित होती है। धर्म कुछ विधानों, व्यवहारों एवं परम्पराओं से निर्मित होता है। धर्म का संबंध आत्मा से होता है। भारतीय समाज में धर्म एक ऐसी संस्था है जो भारत को विभिन्न समूहों में संगठित रखकर पहचान एवं नाम देती है।

नातेदारी

मनुष्य ने जब से समूह में रहना शुरू किया तभी से ही संबंधों को बनाना एवं बनाये रखने का प्रयास किया है। प्रत्येक समाज के सदस्य विभिन्न प्रकार के संबंधों द्वारा अनेक सामाजिक समूहों के रूप में परस्पर बंधे हुये होते हैं। ये संबंध विवाह के पहले एवं विवाह उपरांत के होते है। कुछ संबंध रक्तसंबंधी होते है तो कुछ संबंध रक्त संबंधी नहीं होते। ये सभी संबंधी नातेदारी की श्रेणी में आते हैं। अर्थात नातेदारी से अभिप्राय व्यक्तियों के आपसी संबंधो की एक व्यवस्था से है, जिनके साथ व्यक्ति को आजीवन निर्वाह करना होता है। नातेदारी व्यवस्था में संबंधों में भिन्नताएं क्षेत्र एवं भौगोलिक आधार पर भी पाई जाती है। नातेदारी व्यक्ति के वंशावली को दर्शाती है जो जैविक होते हुए भी सामाजिक आधार की जड़ को मजबूत बनाती है। नातेदारी व्यवस्था ही व्यक्ति के जीवन एवं मृत्यु के बाद तक कायम रहती है। ये नातेदारी अधिकार, कर्त्तव्य, अनुबंध तथा नियम से बंधी एवं जुड़ी होती है ।

शिक्षा

शिक्षा प्राचीनकाल से ही रूचि अभिरूचि का विषय रही है। भारतीय समाज में शिक्षा एक संस्था के रूप में विद्यमान है। शिक्षा का आधार पूर्णतः सामाजिक है क्योंकि मानव जिज्ञासु प्रवृत्ति का होता है। ज्ञान का अर्जन एवं संग्रह से ही मानव का चहुमुखी विकास होता है। शिक्षा जीवन की आवश्यकता है। जो जीवन को सरल एवं जीने योग्य बनाती है। शिक्षा वह संस्था है जो ज्ञान को पुरानी पीढ़ी से नई पीढ़ी को हस्तांतरित करती है। शिक्षा वह साधन है जो समाज की अन्य संस्थाओं को सफल बनाने में योगदान देती है। सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की मुख्य भूमिका रहती है। शिक्षा का स्वरूप, शिक्षा की प्रकृति व शिक्षा के उद्देश्य; समाज के स्वरूप, समाज की प्रकृति एवं समाज के उद्देश्यों पर निर्भर करते है। शिक्षा समाज को अधिक उन्नत बनाने में अपना योगदान देती है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक के काल अवधि को देखे तो जिस काल में शिक्षा व्यवस्था अच्छी थी वह काल स्वर्ण अक्षरों में लिखा है। तथा अधिक विकास कार्य जन कार्य उसी काल में देखे गये है।

अर्थव्यवस्था

प्रत्येक समाज में मानव की मूलभूत आवश्यकताएं होती है भोजन वस्त्र एवं आवास। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य किसी न किसी रोजगार को अपनाता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक संबंधों एवं संस्थाओं का उदय हुआ और उपभोग संबंधी वस्तुओं का विनिमय, वितरण, उत्पादन किया जाने लगा। आर्थिक संस्थाएं ही आर्थिक क्रियों की जन्मदात्री होती है। सभी आर्थिक क्रियाएं सामाजिक होती है। भोजन एवं सम्पत्ति पर अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करने एवं संग्रह करने की मानवीय प्रवृत्ति ही आर्थिक क्रियाओं तथा आर्थिक संस्थाओं का निर्माण करती है। ये संस्थाएं कुछ नियमों से बंधी होती है। कुछ मुल्य एवं नैतिकता इन संस्थाओं को संगठित करके रखती है। जिसमें समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके इस प्रकार से हमारी आर्थिक क्रियायें उत्पादन की व्यवस्था और वितरण पर नियंत्रण रखती है।

राजव्यवस्था

प्राचीनकाल में जब मानव ने समूहों में रहना स्वीकार किया तब उन्हें किसी सत्ता की आवश्यकता महसूस हुई जो उनके समूहों को बाहरी ताकतों से सुरक्षा प्रदान कर सके। समूहों एवं समुदायों की संख्या बढ़ने से आपस में मदभेद भी उत्पन्न होने लगे। लोग अपने समूह एवं समुदाय को ही मुख्य मानने लगे जिससे विभिन्न छाटे–छाटे राज्यों का उदय हो गया। इन राज्यों में आपसी एकता मित्रता न रहकर कलह एवं मदभेद ने स्थान ले लिया। कुछ बढ़े तथा कुछ छोटे राज्य अस्तित्व में आ गये अपने–अपने राज्य को अपने अनुसार चलाने के लिए विधि एवं नियमों की भी आवश्यकता हुई और यही आवश्यकता राज्यव्यवस्था नामक संस्था के उद्‌भव का कारण बनी, जो वर्तमान में भी कुछ परिवर्तनों के साथ अडिग है। राजव्यवस्था का संबंध अनेक वर्गों एवं संगठनों से होता है, जिन्हें उनके द्वारा सुरक्षा प्रदान किया जाता है।

मनोरंजन

मनोरंजन व्यक्ति को मानसिक तनाव एवं शारीरिक थकान से मुक्ति दिलाता है। किसी भी कार्य को करने के लिए व्यक्ति के मन एवं शरीर का स्वस्थ्य होना आवश्यक है। अत्यधिक कार्य करने के पश्चात् व्यक्ति को कुछ समय के लिए आराम एवं किसी ऐसे कार्य की आवश्यकता पड़ती है जो उसे मानसिक–शारीरिक शांति प्रदान कर सके जिससे व्यक्ति पुनः नये सिरे से कार्य करने के लिए तत्पर हो सके। व्यक्ति के मन की सुख एवं आराम देने के लिए जो कार्य या क्रियायें किया जाता है उसे ही मनोरंजन कहा जाता है। सामाजिक जीवन में अनेको कार्य ऐसे भी होते है जो व्यक्ति को मानसिक अशांति प्रदान करते हैं। लेकिन मनोरंजन के द्वारा व्यक्ति पुनः स्फूर्ति एवं ताजगी महसूस करने लगता है। मनोरंजन किसी न किसी नियम कानून के अमूर्त ढ़ांचे से बंधा होता है जो व्यक्ति को स्वस्थ्य मनोरंजन प्रदान करने में मदद करता है, जिससे व्यक्ति को किसी प्रकार से शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक समस्याओं का सामाना न करना पड़े।

इस प्रकार हम पाते है कि समाज में विभिन्न सामाजिक संस्थाएं प्रचलित है जो समाज के कल्याण के लिए कार्य करती है। ऐसी संस्थाओं का उद्देश्य समाज के विकास में योगदान देना है। उपरोक्त सभी सामाजिक संस्थाएं समाज को व्यवस्थित कर गतिशील एवं ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान करती है । इन संस्थाओं के बिना समाज को सभ्यता की ओर ले जाना एक कठिन कार्य है। परिवार लोगों को आपस में बांधकर रखता है। विवाह संबंधों को मजबूत बनाकर विस्तार करता है। जाति मानव को एक व्यवसाय में जोड़ती है। इसी प्रकार से धर्म मनुष्य के मन में आस्था जागृत करता है एवं व्यवहार को नियंत्रित करता है। शिक्षा समाज की वो कड़ी है जो बालक को आदर्श एवं नैतिकता का पाठ पढ़ाती है। राजव्यवस्था सामूहिक जीवन को सुरक्षा प्रदान करती है। जिससे मानव अपना सम्पूर्ण कार्य बिना किसी डर भय से कर सके। अर्थव्यवस्था समाज की आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करती है और उत्पादन एवं उपभोग को बढ़ावा देती है। नातेदारी व्यक्ति के सामाजिक दायित्व को दर्शाती है जो जीवन में निभाये जाते है। इस प्रकार हम संस्थाओं को अपने सामाजिक जीवन के लिए अतिआवश्यक मान सकते है जिसके बगैर हम पुनः बराबर युग में जा सकते है। अगली अध्याय में हम इन सामाजिक संस्थाओं को विस्तार से पढ़ेगें।

––==00==––

समिति

भूमिका

समाजशास्त्र को समझने के लिए समाजशास्त्र की अवधारणाओं को समझना आवश्यक होता है। इसी अवधारणा के अंतर्गत समिति का अध्ययन करना भी शामिल है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए प्रयासरत रहता है। समाज एवं समुदाय भी व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली एक संरचना है। इसी कड़ी में समिति को भी स्थान दिया गया है। व्यक्ति अपनी जरूरतों को पूर्ण करने के लिए समूह का निर्माण करता है। समिति भी व्यक्तियों का समूह है। समाज द्वारा इसे मान्यता प्रदान की जाती है। समिति पारस्परिक सहायता एवं सहयोग के आधार पर मिल–जूल कर समूह के लक्ष्यों को पूरा करने वाला एक संगठन ही है। इसमें समूह के सभी सदस्यों का लक्ष्य एक समान होता है।

समिति का अर्थ

जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यक्ताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं, संगठन बनाकर प्रयत्न करते हैं, तो ऐसे संगठन को ही समिति कहा जाता है। समिति व्यक्तियों का समूह है। यह किसी विशेष हित या हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। परिवार, विद्यालय, व्यापार, संघ, चर्च, धार्मिक संघ, राजनितिक दल, राज्य इत्यादि समितियां हैं। इन सभी का निर्माण विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। समिति व्यक्तियों का एक मूर्त समूह है।

समिति की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों द्वारा समिति को पारिभाषित किया गया है:

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''समिति किसी एक सामान्य उद्देश्य या अनेक उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित समूह है।''

ऑगबर्न एवं निमकॉफ, ''समिति एक ऐसा संगठन है, जो प्रायः

विशेष स्वार्थ की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। इनका उद्देश्य अपने सदस्यों की विशेष या सामान्य इच्छाओं की संतुष्टि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।''

बोगार्डस के अनुसार, ''समिति प्रायः कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने को कहते हैं।''

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, ''समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो किसी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित होता है और कुछ मान्यता प्राप्त एवं स्वीकृत कार्य प्रणालियों के आधार पर अपने व्यवहारों को करता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसमें सहयोग एवं संगठन पाया जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य किसी लक्ष्य की पूर्ति करना है। समिति के सदस्य अपने विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति कुछ निश्चित नियमों के अंतर्गत सामूहिक प्रयास द्वारा करते हैं। समिति की अपनी एक कार्यकारिणी भी होती है और कार्यकर्ता भी।

समिति के अनिवार्य तत्व

समिति के निम्नलिखित चार अनिवार्य तत्व हैः

1. **व्यक्तियों का समूहः** समिति व्यक्तियों का एक संकलन है, जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना अनिवार्य शर्त है, तभी समिति का निर्माण हो सकता है। समिति समुदाय की भांति मूर्त होती है, इसे निर्मित किया जाता है।
2. **सामान्य उद्देश्यः** समिति का दूसरा अनिवार्य तत्व सामान्य उद्देश्य है। व्यक्ति इन्ही सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन बनाते है और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। समिति के लिए किसी उद्देश्य का होना अनिवार्य शर्त है, इसके बिना समिति का निर्माण असंभव है।
3. **पारस्परिक सहयोगः** पारस्परिक सहयोग समिति का तीसअनिवार्य

तत्व है। इसी के आधार पर समिति का निर्माण होता है। सहयोग के बिना समिति का कोई अस्तित्व नहीं है। पारस्परिक सहयोग द्वारा ही ये अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।

4. **संगठनः** समिति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन का होना अनिवार्य है। संगठन द्वारा समिति की कार्यप्रणाली में कुशलता आती है। संगठन से ही सभी कार्यकर्ता जुड़े होते हैं और लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं।

समिति के लिए इन चारों आवश्यक तत्वों का होना अनिवार्य है। ये चारों तत्व ही समिति को समिति बनाते हैं, अन्यथा व्यक्तियों के और भी समूह हो सकते हैं।

वैसे समितियों का निर्माण विभिन्न आधारों पर भी किया जाता है। जैसे

अवधि के आधार पर समिति	स्थायी	– राज्य
	अस्थायी	– बाढ़ सहायता समूह
सत्ता के आधार पर	संप्रभु	– राज्य
	अर्द्ध संप्रभु	– विश्वविद्यालय
	असम्प्रभु	– क्लब
कार्य के आधार पर	जैविक	– परिवार
	व्यावसायिक	– श्रमिक संघ
	मनोरंजनात्मक	– संगीत क्लब
	परोपकारी	– सेवा समिति आदि

समिति की प्रमुख विशेषताएं

समिति की विभिन्न परिभाषाओं से कुछ विशेषताएं भी स्पष्ट होती है, जिनमे से प्रमुख विशेषताएं निम्न हैः

1. **मानव समूह :** समिति का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समूह से होता है जिसका एक संगठन होता है। संगठन होने का मुख्य आधार उद्देश्य या उद्देश्यों की समानता है।

2. **निश्चित उद्देश्यः** समिति के गठन के लिए निश्चित उद्देश्यों का होना अति आवश्यक होता है। यदि निश्चित उद्देश्य न हों तो व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिए तत्पर नहीं होंगें और न ही समिति का जन्म होगा।
3. **पारस्परिक सहयोगः** समिति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक व्यवस्था का निर्माण करती है। उद्देश्य की प्राप्ति एवं व्यवस्था को संचालित करने के लिए पारस्परिक सहयोग का होना अति आवश्यक है। सदस्यों के समान उद्देश्य होने के कारण उनमें सहयोग पाया जाता है।
4. **ऐच्छिक सदस्यताः** समिति की सदस्यता के लिए कोई बाध्यता नहीं होती है। जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि अमुक समिति उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकती है तो वह उस समिति का सदस्य बन जाता है। समिति की सदस्यता को कभी भी बदला जा सकता है। व्यक्ति एक से अधिक समिति का सदस्य हो सकता है।
5. **अस्थायी प्रकृतिः** समिति का निर्माण विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। जब उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाती है तो वह समिति समाप्त हो जाती है, जैसे गणेशोत्सव पर गठित गणेशोत्सव समिति गणेश उत्सव के बाद भंग हो जाती है। ऐसा ना होने पर समिति के सदस्य स्वयं समिति की सदस्यता त्याग देते हैं।
6. **विचारपूर्वक स्थापनाः** समिति का निर्माण स्वतः नहीं होता है जैसे समुदाय का होता है। इसका निर्माण अनेक व्यक्तियों द्वारा जान–बूझकर या विचारपूर्वक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। व्यक्तियों का समूह पहले यह परामर्श करता है कि समिति उनके लिए कितनी लाभप्रद होगी, इसके पश्चात ही समिति की स्थापना की जाती है।
7. **निश्चित संरचनाः** प्रत्येक समिति की एक सुनिश्चित संरचना होती है। समिति मनुष्यों का संकलन मात्र नहीं होती, वरन् समस्त

सदस्यों की प्रस्थिति या पद भी संचालित होते हैं। पदों के अनुसार ही उन्हें अधिकार प्राप्त होते हैं। जैसे–महाविद्यालय में प्राचार्य, अध्यापक, छात्र, लिपिक इत्यादि की अलग–अलग प्रस्थिति होती है।

8. **समिति साधन है, साध्य नहीं:** समिति अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। समिति एक माध्यम है, स्त्रोत नहीं है। यदि व्यक्ति को पढ़ने का शौक है तो वह वाचनालय की सदस्यता ग्रहण कर लेता है, जहाँ इच्छानुसार पुस्तकें मिलती रहती है। पुस्तकालय पुस्तक प्राप्त करने का साधन है साध्य नहीं, और यही समिति है।
9. **मूर्त संगठन:** समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कतिपय उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु एकत्र होते हैं। ऐसी स्थिति में समिति को एक मूर्त संगठन के रूप में वर्णित किया जा सकता है, इसको किसी के भी द्वारा देखा जा सकता है।
10. **नियमों पर आधारित:** प्रत्येक समिति की कार्य–प्रणाली एवं उद्देश्य अलग–अलग होते हैं, इसी कारण समितियों के नियम भी अलग–अलग होते हैं। उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सदस्यों के व्यव्हार के अनुरूप निश्चित नियम आवश्यक हैं। नियमों के अभाव में समिति अपने लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर सकती है। इसलिए समिति नियमों पर आधारित होती है।
11. **औपचारिक सम्बन्ध:** समिति के सभी सदस्यों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध का होना आवश्यक नहीं होता है। इसलिए समिति के सदस्यों के बीच औपचारिक सम्बन्ध होते हैं, मात्र इनके उद्देश्यों में समानता रहती है।
12. **अनेक समितियों की सदस्यता:** एक व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए भिन्न–भिन्न समितियों की सदस्यता एक साथ ग्रहण कर सकता है, अर्थात् व्यक्ति एक साथ या एक समय में एक से अधिक समिति का सदस्य हो सकता है।

समिति के प्रकार

सभी समितियाँ मुख्यतः निम्न प्रकारों के अंतर्गत वर्गीकृत की जा सकती हैः

1. **आर्थिक समितियाँः** आर्थिक समितियों के अंतर्गत निम्न समितियाँ आती हैंः

   1. व्यापारिक समितियाँ, 2. मजदूर संगठन, 3. व्यावसायिक समितियाँ, 4. सहकारी समितियाँ।

2. **राजनितिक समितियाँः** राजनितिक समितियों के अंतर्गत निम्न समितियाँ आती हैंः

   1. राजनितिक दल, 2. सुधार आंदोलन संगठन, 3. पंचायत।

3. **सांस्कृतिक समितियाँः** सांस्कृतिक समितियों में निम्न समितियों को शामिल किया जा सकता हैः

   1. धार्मिक समाज, 2. प्रार्थना समाज, 3. रामायण मंडल, 4.रामकृष्ण मिशन, 5. धार्मिक परिषद्।

4. **शैक्षणिक समितियाँः** शैक्षणिक समितियों के अंतर्गत निम्न समितियाँ आती हैंः

   1. समाजशास्त्र परिषद्, 2. वैज्ञानिक परिषद्, 3. शिक्षा मंडल।

5. **मनोरंजनात्मक समितियाँः** कुछ समितियाँ मनोरंजनात्मक समितियों के अंतर्गत आती है, जैसेः

   1. संगीत मंडल, 2. व्यायाम शाला, 3. क्लब, 4. नाट्य – मंडल, 5. खेलकूद परिषद् आदि।

6. **सेवा एवं सामान्य–कल्याण समितियाँः** इसके अंतर्गत निम्न प्रकार की समितियाँ आती हैंः

   1. अनाथालय, 2. हरिजन एवं पिछड़ा सेवक संघ, 3. सलाहकार कल्याण परिषद्, 4. महिला संगठन, 5. साहित्य परिषद्।

समिति के कार्य

समिति के कार्य को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है:

1. समिति का कार्य है ऐसे विषयों पर विचार करना तथा परामर्श देना है जो समिति के अध्यक्ष द्वारा समय–समय पर निर्दिष्ट किये जायें।
2. समिति अपने समूह के सदस्यों के लक्ष्यों को पूर्ण करने में मदद करती है।
3. समिति सभी सदस्यों को समग्र रूप से निर्णय में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करती है।
4. समिति अपने सदस्यों को नामित कर पद एवं प्रस्थिति प्रदान करती है।
5. समिति कार्यों का बंटवारा सदस्यों के बीच समान रूप से करती है।
6. समिति शासन का दायित्व निभाती है।
7. समिति अनुशासन निर्मित करने का कार्य करती है।
8. समिति सिफारिशें भी करती है।
9. समिति शक्ति एवं अधिकार का बंटवारा करती है।
10. समिति अपने मूल निकाय को रिपोर्ट करती है।

अतः समितियों को इन कार्यों के अलावा आमतौर पर स्वतंत्र रूप से कार्य करने की शक्ति नहीं होती है, जब तक कि इसे बनाने वाला नियामक इसे ऐसी शक्ति नहीं देता है। इसके पश्चात् भी समिति के कुछ उद्देश्य होते हैं, कुछ नियम–कानून होते हैं, जिन्हें सदस्यों के द्वारा बनाया एवं निभाया जाता है। ये सभी परोक्ष रूप से समिति के ही कार्य के अंतर्गत आते हैं। जब एक समिति का गठन किया जाता है, तो समिति के लिए एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष की भी नियुक्ति की जाती है, जो बैठकें आयोजित करते हैं। उपयुक्त विषयों पर चर्चा करना, सदस्यों को बोलने के लिए मान्यता देना और समिति जो भी निर्णय ले उसकी पुष्टि करना एवं प्रक्रियाओं का पालन करवाना, सभी समिति के कार्य के अंतर्गत आते हैं। समिति की बैठक नियमित, साप्ताहिक या मासिक अथवा जरूरत पड़ने पर

अनियमित रूप से बुलाई जा सकती है। जब समिति अपना कार्य पूरा कर लेती है तो वह एक रिपोर्ट के रूप में परिणाम प्रदान करती है। इसके बाद आवश्यकता होने पर समिति को बनाये रखा जाता है नहीं तो भंग कर दिया जाता है।

––==00==––

सामाजिक समूह

भूमिका

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उनकी अनंत आवश्यकताएं हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति वह अपने अकेले के प्रयत्न करने से नहीं कर सकता, क्योकि व्यक्ति के पास आवश्यकता पूर्ति के सभी साधन एवं शक्ति सीमित होती हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जब कुछ व्यक्ति साथ–साथ प्रयास करते हैं तो वह समूह का निर्माण करते हैं। समूह मानव की स्वाभाविक प्रकृति है, वह समूह के बिना रह नहीं सकता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह में रहना आवश्यक है। इसी कारण मनुष्य अनेक समूहों का सदस्य होता है। समूह का निर्माण इस तथ्य पर आधारित है कि कोई न कोई स्वार्थ समूह के सदस्यों को एक सूत्र में बांधे रखता है। विभिन्न प्रकार के समूह से ही समाज का निर्माण होता है। एक समाज में अनेक समुदाय तथा एक समुदाय में अनेक समितियाँ पायी जाती है। सामाजिक समूहों का समाजशास्त्रीय अध्ययन 20वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ। अध्ययन से ही ज्ञात हुआ कि प्रत्येक समूह की एक विशेष संरचना होती है। संरचना के आधार पर ही प्रत्येक समूह कार्य करता है।

सामाजिक समूह के तहत सदस्य आपस में पसंद के आधार पर और संबंध के आधार पर एक–दूसरे से बंधे होते हैं। समूह मानव जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं। मनुष्य समाजीकरण एवं व्यक्तित्व विकास के लिए अनेकों सामाजिक समूहों का सदस्य होता है। समूह में अपने पारिवारिक या रक्त संबंधी या बाहर के लोग भी हो सकते हैं। दो या दो से अधिक व्यक्तियों के आपस में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध का होना समूह का आधार स्तंभ है।

सामाजिक समूह का अर्थ

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अपने उद्देश्य के लिए एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करते हैं और प्रभावित करते हैं, तो व्यक्तियों के ऐसे संग्रह को सामाजिक समूह कहा जाता है। सामान्य

शब्दों में समूह का अर्थ व्यक्तियों के संग्रह से लिया जाता है, लेकिन उसे समूह की संज्ञा नहीं दी जा सकती है; समूह की संज्ञा तब दी जाती है जब उद्देश्य, चेतना, अंतःक्रिया का संचार उन व्यक्तियों के संग्रह में पाया जाए। अर्थात् समूह से तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से है जो एक–दूसरे के साथ उद्देश्य, चेतना एवं अंतःक्रिया के संचार के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

शाब्दिक अर्थ में

सामाजिक समूह दो शब्दों से मिलकर बना है – सामाजिक + समूह। सामाजिक = समाज से सम्बंधित है, समूह = दो या दो से अधिक इकाईयों से। इस प्रकार दो या दो से अधिक व्यक्तियों के संगठन को सामाजिक समूह कहते हैं। समूह के निर्माण के लिए अंतःक्रिया एवं संचार का होना आवश्यक है। इसके अभाव में समूह को सामाजिक समूह न कह कर भीड़ कहा जाएगा।

सामाजिक समूह की परिभाषा

सामाजिक समूह को विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने विचारों से परिभाषित किया हैः

बोगार्डस के अनुसार, ''सामाजिक समूह का अर्थ दो या दो से अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनके कुछ सामान्य लक्षण होते हैं, जो एक–दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनकी सामान्य निष्ठा हो तथा जो समान गतिविधियों में हिस्सा लेते हैं।''

ऑगबर्न एवं निमकॉक के अनुसार, ''जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं, और एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।''

फेयरचाइल्ड के अनुसार, ''दो या अधिक व्यक्तियों का संग्रह समूह है, जिनके बीच स्थापित मनोवैज्ञानिक अंतःक्रिया प्रतिमान होता है, जो उसके सदस्यों द्वारा, सामान्यतया दूसरों के द्वारा भी, उसके विशिष्ट सामूहिक व्यवहार के कारण एवं संधि के रूप में स्वीकृत किया जाता है।''

कैटेल के अनुसार, ''समूह उस जमात को कहते हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी सदस्यों का सहयोग लिया जाए।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह है, जो सामान्य उद्देश्य के लिए एक–दूसरे को प्रेरणा देते हैं, सहयोग करते हैं। जिस प्रकार से मछली पानी के बिना नहीं रह सकती उसी प्रकार मनुष्य समूह के बिना या समूह से अलग अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं सकता है। इसलिए सामाजिक समूह व्यक्ति एवं समाज के हित के लिए आवश्यक है।

सामाजिक समूह की विशेषताएं

सामाजिक समूह की विभिन्न विशेषताओं को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है:

1. **दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रहः** सामाजिक समूह की सबसे प्रथम विशेषता यह है की इसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह होना आवश्यक है। एक व्यक्ति समूह का निर्माण नहीं कर सकता है या किसी एक व्यक्ति की उपस्थिति समूह नही कहलाती है। यह आवश्यक नहीं है की समूह के सदस्यों में शारीरिक निकटता ही हो, परन्तु उनके मध्य अंतःक्रिया का होना आवश्यक है।
2. **समूहों की अपनी सामाजिक संरचनाः** प्रत्येक समूह की एक सामाजिक संरचना होती है। उस संरचना में व्यक्तियों की परिस्थितियां निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर सामाजिक संरचना निर्धारित की जाती है। विभिन्न व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सहयोग और अन्तःक्रियाओं के लिए संरचना के द्वारा संस्थात्मक व्यवस्था पायी जाती है।
3. **पारस्परिक निर्भरताः** सामाजिक समूह के सभी सदस्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक–दूसरे पर निर्भर होते हैं। यही

निर्भरता समूह में अंतःक्रिया को जन्म देती है। परस्पर निर्भरता ही समूह को मजबूत बनती है, और समूह के सदस्यों को एक साथ रहने एवं कार्य करने की प्रेरणा देती है।

4. **ऐच्छिक सदस्यताः** समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है। परिवार जैसे समूह को छोड़कर अन्य सभी समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है। सदस्यता व्यक्ति की व्यक्तिगत रूचि तथा लक्ष्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस–किस समूह की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। तात्पर्य है कि मनुष्य अपने जीवन काल में एक से अधिक समूहों के संपर्क में आता है।
5. **निश्चित नियम और कार्य प्रविधियांः** प्रत्येक सामाजिक समूह की संरचना में सदस्यों की स्थितियों, भूमिकाओं, अधिकारों, कर्तव्यों और कार्यकलापों के विषय में औपचारिक रूप से या अनौपचारिक रूप से विकसित नियम और कार्य विधियां होती हैं, जिसका पालन करना सामाजिक समूह के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य होता है।
6. **समूह एक मूर्त संगठनः** सामाजिक समूह एक मूर्त संगठन है। सामाजिक समूह में समान उद्देश्यों एवं लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है। सामाजिक समूह स्वतः निर्मित नहीं होता है।
7. **सामाजिक मानदंडः** सभी सामाजिक समूह अपने अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए कुछ मानदंडों के आदर्श नियमों की स्थापना करते हैं। इन्हीं मानदंडों के द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित रखते हैं एवं इन्हीं मानदंडों के कारण सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता रहती है। सभी समूहों के मानदंड अलग–अलग होते हैं मगर समूह के सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू होते हैं।
8. **पृथक पृथक भूमिकाएंः** समूह के सदस्य अपनी–अपनी स्थिति के अनुसार भिन्न–भिन्न भूमिकाएं निभाते हैं। सदस्यों की भूमिकाओं का निर्धारण समूह के द्वारा किया जाता है। समूह में एकता बनाए रखने के लिए सभी सदस्य अपनी–अपनी भूमिकाएं निभाते हैं। सभी

सदस्यों की भूमिका समूह के अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण होती है।

9. **सामान्य हितः** प्रत्येक सामाजिक समूह के सदस्य एक–दूसरे के हितों के लिए आपस में जुड़े रहते हैं। मनुष्य किसी समूह का सदस्य इसलिए बनता है कि समूह के माध्यम से वह अपने हितों की पूर्ति कर सके। सदस्यों के सामान्य हित होते हैं। यदि हितों में असमानता होगी तो समूह का संबंध भी मजबूत नहीं हो पाएगा।
10. **सामाजिक संबंधः** समूह के सदस्यों के बीच एक सामाजिक संबंध पाया जाता है। यह संबंध वास्तविक या काल्पनिक दोनों ही हो सकते हैं। यही सामाजिक संबंध समूह के सदस्यों को भावनात्मक रूप से जोड़ कर रखता है।
11. **नियंत्रणात्मक व्यवस्थाः** सामाजिक समूह में सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए किसी ना किसी प्रकार की औपचारिक या अनौपचारिक नियंत्रणात्मक व्यवस्था पाई जाती है और यही व्यवस्था समूह के सदस्यों के अनुचित व्यवहारों को नियंत्रित करती है।
12. **एकता की भावना एवं पारस्परिक आदान–प्रदानः** सामाजिक समूह के सदस्यों में एकता की भावना पाई जाती है। साथ ही विचारों का आदान–प्रदान भी समूह में आवश्यक है। एक ही समूह के सदस्यों में विचारों के साथ ही वस्तुओं का भी आदान–प्रदान हुआ करता है।

सामाजिक समूह का वर्गीकरण

मनुष्य अपने जीवन काल में विभिन्न समूह का सदस्य होता है। किसी समूह की सदस्यता मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त हो जाती है, तो कुछ समूहों की सदस्यता जन्म के बाद वह ग्रहण करता है। व्यक्ति का संपूर्ण जीवन समूहों में ही व्यतीत होता है। जिन–जिन समूहों के हम सदस्य होते हैं, वे सभी समूह समान महत्व के नहीं होते हैं। कुछ समूहों की सदस्यता हम अपनी पसंद से ग्रहण करते हैं। सभी समूह का योगदान

हमारे जीवन में बहुत महत्वपूर्ण है। समाज में कुछ समूह ऐसे भी हैं जिनके बिना हमारे समाज का काम नहीं चल सकता है। समाज के विकास में समूह महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समूह का महत्व और वर्गीकरण समाज से जुड़ा हुआ है। जब समूह का वर्गीकरण करते हैं तो इसके पीछे कोई तर्क या आधार होता है। समाजशास्त्रियों ने समूह का वर्गीकरण विभिन्न आधार पर किया है। किसी ने आकार के आधार पर तो किसी ने संख्या के आधार पर एवं किसी ने संबंधों के आधार पर सामाजिक समूह का वर्गीकरण किया है। परिणामस्वरूप समूह का वर्गीकरण अनेक है। मुख्य उल्लेख अमेरिकी समाजशास्त्र चार्ल्स कुले के वर्गीकरण का किया जाता है, जिन्होंने सामाजिक समूह को मुख्य रूप से प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह में वर्गीकृत किया है।

1. **प्राथमिक समूहः** चार्ल्स कुले ने सर्वप्रथम प्राथमिक समूह की अवधारणा को सबके समक्ष रखा। प्राथमिक समूह वे समूह होते हैं जो आकार में लघु एवं सदस्य भावनात्मक स्तर पर जुड़े रहते हैं। चार्ल्स कुले ने प्राथमिक समूह की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्राथमिक समूह से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिसमें आमने–सामने का संबंध एवं शारीरिक समीपता पाई जाती है। प्राथमिक समूह की प्रकृति स्थाई होती है। सदस्यों की संख्या कम होती है। आमने–सामने के संबंध एवं निष्ठा होती है। सदस्यों में हम की भावना पाई जाती है। प्राथमिक समूह व्यक्ति के स्वभाव, आदर्शों एवं मूल्यों का निर्माण करता है। परिवार, पड़ोस, क्रीड़ा समूह प्राथमिक समूह के अच्छे उदाहरण है। प्राथमिक समूह अपने आप में मजबूती से बना हुआ समूह है, जिसमें आमने–सामने के संबंधों के अलावा एकता की भावना प्रबल रूप से पाई जाती है। प्राथमिक समूह के सदस्यों के संबंध भी प्राथमिक होते हैं। समूह में सहयोग एवं सहचर्य की भावना इतनी प्रभावशाली होती है कि व्यक्ति की अहम की भावना हम की भावना में बदल जाती है।

प्राथमिक समूह की परिभाषा

चार्ल्स कुले के अनुसार, ''प्राथमिक समूह से तात्पर्य उस समूह से है जिसकी विशेषता आमने–सामने के प्रत्यक्ष संबंध तथा अनौपचारिक एवं घनिष्ट संबंध एवं पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। यह समूह व्यक्ति की सामाजिक, स्वाभाविक एवं आदर्श मूल्यों के निर्माण में मौलिक होते हैं।''

लुण्डबर्ग के अनुसार, ''प्राथमिक समूह का अर्थ दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों से है, जो घनिष्ठ, सहभागी और व्यक्ति ढंग से एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं।''

ब्रूम के अनुसार, ''प्राथमिक समूह समाज और व्यक्ति के बीच की सबसे बड़ी कड़ी है।''

प्राथमिक समूह की विशेषताएं

प्राथमिक समूह की मुख्य विशेषताओं को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया हैः

1. **लघु आकारः** प्राथमिक समूह का आकार छोटा होता है। इसकी कोई निश्चित संख्या निर्धारित नहीं है लेकिन आकार इतना लघु होता है कि सदस्य आपस में संपर्क कर सके। समूह के सदस्य एक दूसरे से प्रत्यक्ष संपर्क बनाए रख सकें। रेडफील्ड ने भी प्राथमिक समूह के छोटे आकार को स्वीकार किया है। प्राथमिक समूह में प्रायः नातेदार एवं समुदाय के सदस्य अंतःक्रियाओं की दृष्टि से एक दूसरे के निकट होते हैं।
2. **सजातीयताः** प्राथमिक समूह के सदस्य चाहे पुरुष हो या स्त्री, छोटे हो या बड़े सभी समान स्तर के होते हैं। सामान्यतया इनके सोच–विचार, शिक्षा–दीक्षा और व्यवसाय के संबंध में बहुत बड़ा अंतर नहीं होता है। ग्रामीण समुदाय में कृषि के संबंध में सजातीयता बहुत अधिक होती है। दुख हो या सुख सभी अवसर पर समूह के सदस्यों में एक मानसिक सजातीयता देखी गई है।

3. **संबंधों की अवधिः** प्राथमिक समूह के सदस्यों में संबंधों की अवधि लंबी होती है, अर्थात् संबंध लंबे समय तक कायम रहते हैं। गांव के लोग पीढ़ी दर पीढ़ी एक–दूसरे से जुड़े रहते हैं। नातेदारों के संबंध में अवधि और भी लंबी होती हैं। संबंधों की अवधि जितनी लंबी होती है उतनी ही सुगठित एवं सुदृढ़ होती हैं।
4. **शारीरिक समीपताः** शारीरिक समीपता प्राथमिक समूह का बहुत बड़ा लक्षण या विशेषता है। एक ही छत के नीचे रहने के कारण या पास–पास रहने के कारण इनमें शारीरिक निकटता अधिक होती है। रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं रोजगार सभी में प्राथमिक समूहों के सदस्य किसी न किसी प्रकार से भागीदार होते हैं एवं आपस में सहयोग करते हैं।
5. **संवेगः** संवेग प्राथमिक समूह की मुख्य विशेषताओं में शामिल है। संवेग से हम की भावना मजबूत होती है। जब समूह के सदस्य संवेगात्मक रूप से आपस में जुड़े होते हैं, तो वे सभी संकट के समय में भी आसानी से एक दूसरे की मदद करते हैं।वह लाभ–हानि की चिंता किए बिना अपने समूह के लिए कार्य करते हैं।
6. **आत्मनिर्भरताः** प्राथमिक समूह के सदस्यों में आत्मनिर्भरता होती है। समूह की सभी आवश्यकताएँ समूह में ही पूर्ण हो जाती है, अर्थात् समूह अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह से बाहर आशा नहीं करते हैं। सभी प्राथमिक समूह स्वावलंबी होते हैं। गांव में इसका स्पष्ट उदाहरण देखने को मिलता है। परिवार में गरीब हो या अमीर अपने भाई बहनों की सभी आवश्यकताएँ यहीं पूरी हो जाती हैं। मित्र मंडली में भी अपने मित्रों की सहायता समूह के अंदर ही की जाती है।
7. **संबंध स्वयं में साध्य होते हैंः** प्राथमिक समूह के सदस्यों के बीच संबंधों का विकास किसी भी स्वार्थ की भावना से नहीं होता है। प्राथमिक समूह में इतनी घनिष्ठता पाई जाती है कि ऐसे संबंधों में बंधने वाले व्यक्ति एक दूसरे के बिना रहना कठिन समझते हैं,

इसलिए प्राथमिक समूह में संबंध स्वयं में साध्य होते हैं।

8. **सामाजिक नियंत्रणः** प्राथमिक समूह में सामाजिक नियंत्रण के लिए भी सुगठित व्यवस्था पाई जाती है। समूह के सदस्यों में परस्पर प्रकृति, सहयोग, एवं घनिष्ठता को बनाए रखने के लिए समूह के द्वारा सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था समूह में ही की जाती है।

9. **प्रतियोगिता एवं संघर्षः** समूहों के मध्य आपस में प्रतियोगिता एवं संघर्ष भी पाया जाता है, जिसका निवारण समूह में ही किया जाता है। मित्र–मित्र में, माता–पिता में, पिता–पुत्र में, भाई–बहन में, सगे–संबंधियों में संघर्ष होना आम बात है, लेकिन इस संघर्ष का निवारण भी समूह के अंदर ही होता है।

10. **अनौपचारिक संबंधः** प्राथमिक समूह में संबंध प्रत्यक्ष एवं अनौपचारिक होते हैं। संबंधों के लिए किसी नियम या स्थान की आवश्यकता नहीं होती है। हम जिस संबंध में समूह में बंधे हैं, वह संबंध स्वतः विकसित होता है और अनौपचारिक रूप से हमारे जीवन काल तक चलता है। संबंधों के लिए किसी बहाने औपचारिकता की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

2. **द्वितीयक समूहः** प्राथमिक समूह के विपरीत विशेषताओं वाले समूह ही द्वितीयक समूह माने जाते हैं। द्वितीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता का अभाव होता है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। इसमें आमने–सामने के संबंध नहीं पाए जाते हैं। द्वितीयक समूह जानबूझकर एवं विचार विमर्श के बाद किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। आकार में बड़ा होने के कारण सदस्यों में शारीरिक निकटता का प्रश्न ही नहीं उठता है। सदस्य एक दूसरे को जानते पहचानते भी नहीं है। इस समूह के उदाहरण हैंः व्यवसायिक संगठन, कर्मचारी यूनियन, बाजार, खेल, एवं मनोरंजन समूह, क्लब आदि। गिडेंस ने द्वितीयक समूह को मनुष्यों की एक संख्या माना है जो मिलते हैं रोज

नियमित रूप से मगर उनके बीच किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं होता है। द्वितीयक समूह की अवधारणा के विकास में जॉर्ज सी होमन्स एवं किंग्सले का नाम उल्लेखनीय है।

द्वितीयक समूह की परिभाषा

चार्ल्स कूले, ''द्वितीयक समूह ऐसे समूह होते हैं जिनमें घनिष्ठता का पूर्णतया अभाव होता है, जिसमें संबंध आंशिक होता है।''

ऑगबर्न एवं निमकॉफ, ''वे सभी समूह जो घनिष्ठता की कमी का अनुभव करते हैं वे द्वितीयक समूह कहलाते हैं।''

द्वितीयक समूह की विशेषताएं

1. **औपचारिक संबंधः** द्वितीयक समूह में लोगों के साथ हमारे संपर्क वस्तुतः प्रस्थिति एवं भूमिका से जुड़े होते हैं। आज की प्रस्थिति में जो व्यक्ति कार्य कर रहा है कल वह चला जाएगा, उसके स्थान में कोई अन्य व्यक्ति आ जाएगा। हमारा संबंध तो उस प्रस्थिति के साथ है जिस पर विभिन्न लोग कार्य करते और बदलते रहते हैं। उनके बीच औपचारिक संबंध ही कायम रहता है।
2. **बड़ा आकारः** द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। यही कारण है कि व्यक्ति आपस में अनजान होते हैं। इनमें आपस में किसी भी प्रकार की अंतःक्रियाएं नहीं होती है। मात्र यह संख्या में जानी पहचानी जाती है।
3. **अवैयक्तिक संबंधः** द्वितीयक समूह में सदस्य एक दूसरे को व्यक्तिगत रुप से नहीं जानते हैं। बैंक के काउंटर में चेक लेने वाला व्यक्ति या डाकघर में हमें टिकट देने वाला व्यक्ति कहां का रहने वाला है, विवाहित है या अविवाहित, इससे हमें कोई लेना देना नहीं होता है, हमारा उद्देश्य तो चेक का धनि या डाक टिकट लेना है।
4. **निश्चित उद्देश्यः** द्वितीयक समूह में व्यक्ति के जीवन की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। प्रत्येक संगठन के कुछ सीमित लक्ष्य होते हैं। ये इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति के लिए काम करते हैं।

हमारा संबंध भी इन संगठनों के सीमित क्षेत्र तक ही होता है। यदि हम बैंक जा रहे हैं तो हमारा उद्देश्य मात्र कुछ समय के लिए या किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए ही जाना होता है।

5. **द्वितीयक समूह लोगों की एक समिति हैः** यह समूह वृहद आकार के होते हैं। इनमें सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है। इसी कारण लोग एक दूसरे को जानते नहीं हैं। यह समूह एक समिति है, जिसकी स्थापना सोच समझकर किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है। स्वयंसेवी संस्थाएं, व्यावसायिक संगठन आदि इसके उदाहरण हैं।
6. **अस्थाई संबंधः** द्वितीयक समूह में संबंध अस्थाई होता है। किसी अवसर पर ही हम इस समूह से जुड़ते हैं। इसके उपरांत हम फिर अपने रास्ते चले जाते हैं या हो सकता है लंबे समय तक उस समूह से हमारा काम ही ना पड़े।
7. **संबंधों का आधार संविदा होता हैः** द्वितीयक समूह के सदस्यों के साथ लंबी अवधि तक हमारे संबंध नहीं होते हैं। बाजार का कामकाज बैंक के संबंधों के बिना नहीं हो सकता। चिकित्सालय या कोई अन्य सेवार्थ संस्थाओं के द्वितीयक संगठनों के साथ हमारे संबंध निश्चित नियमों के अनुसार होते हैं। यह एक संविदात्मक प्रणाली है। यदि हमें उस समूह से कोई कार्य नहीं है तो हम उस समूह में नहीं जाते।
8. **अस्थिर प्रकृतिः** द्वितीयक समूह अस्थिर प्रकृति के होते हैं। इसमें स्थायित्व की भावना का अभाव पाया जाता है। सहयोगात्मक प्रकृति का भी आंशिक रूप ही नजर आता है। यह समूह उद्देश्य पूर्ति के बाद समाप्त हो जाते हैं।
9. **उत्तरदायित्व की भावना का अभावः** द्वितीयक समूह में सदस्यों के मध्य उत्तरदायित्व की भावना का अभाव पाया जाता है। इस समूह में व्यक्ति किसी के कार्य के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं होता है।

10. **संविदा के उल्लंघन पर दंडः** द्वितीयक समूह संविदा की सीमा में कार्य करते हैं। यदि यह समूह संविदा की शर्तों को नहीं मानते तो दंड का भी प्रावधान रखा जाता है। संविदा ही द्वितीयक समूह के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है।

संदर्भ समूह

संदर्भ समूह की अवधारणा को हरबर्ट हाइमैन ने 1942 में अपनी पुस्तक The Psychology of Status में प्रतिपादित किया है। संदर्भ समूह वह समूह है जिसके आधार पर हर व्यक्ति के लिए अपनी उपलब्धियों, व्यवहारों, आकांक्षाओं आदि का मूल्यांकन करना संभव होता है। एक संदर्भ समूह ऐसा समूह है जिसे व्यक्ति काल्पनिक रूप से चयन करता है, उस समूह के अनुरूप व्यवहार करता है, उस समूह के प्रतिमानों, मूल्यों एवं नियमों को अपने व्यवहार में डालने का प्रयास करता है। संदर्भ समूह लोगों का एक संग्रह है जिसे हम अपने लिए तुलना के मानक के रूप में उपयोग करते हैं। संदर्भ समूह में व्यक्ति व समूह अपनी तुलना दूसरे व्यक्ति या समूह से करता है। व्यक्ति खुद को मनोवैज्ञानिक रूप से उस समूह से जोड़ता है।

संदर्भ समूह की परिभाषा

शैरीफ एवं शैरीफ, ''संदर्भ समूह वे समूह हैं जिनमें व्यक्ति अपने को समूह के अंग के रूप में संबंधित करता है एवं मनोवैज्ञानिक रूप से उससे जुड़ जाता है।''

जॉनसन, ''संदर्भ समूह काल्पनिक होते हैं।''

इस प्रकार यदि मनुष्य समूह का सदस्य नहीं होता और यदि वह समूह का सदस्य बनने का प्रयास करता है तो उसे संदर्भ समूह कहते हैं।

संदर्भ समूह की विशेषताएं

1. संदर्भ समूह व्यक्ति की उच्च अभिलाषाओं का परिणाम है।
2. संदर्भ समूह का अस्तित्व प्रायः मस्तिष्क में होता है।

3. संदर्भ समूह में व्यक्ति गैर सदस्यता समूह का सदस्य बन जाता है।
4. इस समूह में व्यक्ति व समूह अपनी तुलना दूसरे समूह एवं व्यक्तियों से करता है।
5. संदर्भ समूह वास्तविक एवं काल्पनिक हो सकता है।
6. संदर्भ समूह एक सापेक्ष समूह है। आज कोई व्यक्ति जिस समूह को अपना संदर्भ समूह मानता है, यह आवश्यक नहीं कि वह समूह भविष्य में उसका संदर्भ समूह बना रहे।
7. संदर्भ समूह सामान्यतः व्यक्ति के मूल समूह से उच्च स्थिति का होता है।
8. व्यक्ति के लिए वह समूह आदर्श संदर्भ समूह होता है जिसे समाज में प्रतिष्ठा मिली हो।
9. संदर्भ समूह में व्यक्ति दूसरे समूह के आदर्शों को व्यवहार में लाता है।
10. संदर्भ समूह की अवधारणा बंद या परंपरावादी समाजों में कम पाई जाती है एवं आधुनिक समाज में अधिक।

समाजशास्त्रीयों ने समूह का वर्गीकरण कई आधारों पर किया है, किंतु वह सभी आधार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कम महत्व के होते हैं। जैसे औपचारिक समूह – अनौपचारिक समूह, अंतः समूह – बाह्य समूह, सकारात्मक समूह – नकारात्मक समूह, आर्थिक समूह – राजनीतिक समूह, इत्यादि। समूह का वर्गीकरण सभी ने अपने अपने तर्क के आधार पर किया है। कुछ समूह हमें जीवनपर्यंत प्रभावित करते हैं तो कुछ समूह कुछ अवधि के लिए।

सामाजिक समूह मात्र व्यक्तियों का एक योग है जो नियमित रूप से एक–दूसरे के साथ अंतःक्रिया करते हैं। इस तरह की अंतःक्रिया समूह के सदस्यों को एक निश्चित इकाई का रूप देती है। इन सदस्यों की पूर्ण रूप से सामाजिक पहचान अपने समूह से ही होती है। आकार एवं संरचना के आधार पर समूह में भिन्नता होती है। समूह ही व्यक्ति को सामाजिक

प्राणी बनाकर भावनात्मक रूप से जोड़े रखता है। समूह के उद्‌भव से ही हमारी सामाजिक संरचना, सामाजिक नियम, सामाजिक नियंत्रण एवं सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति सरल हुई है।

––==00==––

प्रस्थिति और भूमिका

प्रस्तावना

प्रत्येक समाज एवं समूह में व्यक्ति एक समय विशेष में कोई ना कोई स्थान एवं पद अवश्य धारण करता है। एक व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अनेक पदों पर रहकर अपना कार्य संपादित करता है। इसी पद को व्यक्ति की प्रस्थिति माना जाता है। प्रस्थिति को समाज में कई नामों से जाना जाता है। प्रत्येक पद के साथ एक या एक से अधिक भूमिका जुड़ी होती है, जो व्यक्ति के पद को बनाए रखने में मदद करती है। प्रत्येक भूमिका किसी ना किसी प्रस्थिति को कायम रखती है और प्रत्येक प्रस्थिति किसी ना किसी भूमिका को प्रदान करती है, जैसे अध्यापक का पद एक प्रस्थिति है और इससे जुड़े हुए कार्यों का संपादन उसकी भूमिका है। तात्पर्य यह हुआ कि यदि समाज में कार्यों के संपादन हेतु किसी भूमिका यानी कार्य की आवश्यकता होती है तो उसके पीछे कोई ना कोई प्रस्थिति या पद अवश्य होते हैं।

सामाजिक संगठन के निर्माण में समाज के प्रत्येक व्यक्ति का महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित जगह होती है। प्रस्थिति एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है। यह एक सामाजिक सांस्कृतिक तथ्य है, जबकि भूमिका सामाजिक मनोविज्ञान का विषय है। विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग–अलग प्रकार से किया जाता है।

प्रस्थिति एवं भूमिका का विवेचन सर्वप्रथम रॉल्फ लिंटन ने अपनी पुस्तक ''द स्टडी ऑफ मैन'' में किया है। उनके अनुसार समाज का कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसे कोई प्रस्थिति प्राप्त ना हो। जब व्यक्ति प्रस्थिति से प्राप्त क्रियाओं का संपादन समाज या समूह के प्रतिमानों के अनुरूप करता है, तो इन क्रियाओं को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होते ही व्यक्ति की क्रियाएं भूमिका में बदल जाती है। प्रस्थिति के साथ–साथ भूमिका भी सह–संबंधित रहती है।

प्रस्थिति का अर्थ

प्रस्थिति से तात्पर्य समाज में व्यक्ति की स्थिति से है। अंग्रेजी भाषा के शब्द स्टेटस का हिंदी रूपांतरण प्रस्थिति अथवा पद है। समाज में व्यक्ति का जो पद होता है उसे ही उसकी प्रस्थिति कहते हैं। यह पद व्यक्ति को समाज द्वारा दिया जाता है। कभी–कभी व्यक्ति स्वयं के गुणों एवं योग्यता के आधार पर भी पद को प्राप्त करता है। प्रत्येक समाज में कार्यों के विभाजन की एक व्यवस्था होती है, जिससे व्यक्ति संबद्ध रहता है। प्रत्येक कार्य के साथ ही एक विशेष प्रकार की शक्ति एवं प्रतिष्ठा जुड़ी होती है, जो व्यक्ति को समाज में प्रतिष्ठा दिलाती है। यही प्रतिष्ठा समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण करती है।

प्रस्थिति की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई प्रस्थिति की परिभाषा निम्न हैः

रॉल्फ लिंटन के अनुसार ''किसी व्यवस्था विशेष में किसी व्यक्ति विशेष को किसी समय विशेष में जो स्थान प्राप्त होता है, वही उस व्यवस्था के संदर्भ में उस व्यक्ति की प्रस्थिति कही जाती है।''

बीरस्टीड के अनुसार ''सामान्यता एक प्रस्थिति समाज अथवा समूह में एक पद है।''

जॉन डीवी के अनुसार ''किसी सामाजिक संरचना में व्यक्ति अथवा समूह के संस्थागत पदों की संपूर्णता का नाम ही प्रस्थिति है।''

प्रस्थिति की विशेषताएं

परिभाषा के आधार पर प्रस्थिति की निम्न विशेषताएं उजागर होती हैः

1. **समाज की आवश्यकताओं का परिणामः** प्रस्थिति समाज की आवश्यकताओं के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई है। प्रत्येक कार्य के लिए किसी ना किसी पद की आवश्यकता होती है। यह पद समाज की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सूचित किए जाते हैं। समाज में

जितनी भी प्रस्थितियां हैं, सभी समाज या समूह की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई गई है। यदि किसी पद की समाप्ति हो जाती है, तो उसके स्थान पर किसी नए पद का निर्माण किया जाता है।

2. **प्रस्थिति सापेक्षिक होती हैः** प्रस्थितियां सापेक्षिक होती है अर्थात हमेशा दूसरों के संदर्भ में होती है। अपने आप में किसी भी प्रस्थिति का कोई महत्व नहीं है। सापेक्षिक इसलिए है क्योंकि प्रस्थिति से जुड़े हुए कार्यों का संबंध समाज और उसके समूहों के साथ होता है। चिकित्सक की प्रस्थिति बीमारी से जुड़ी है, यदि बीमार नहीं हुए तो चिकित्सक का पद किसी मतलब का नहीं है। अध्यापक का पद भी विद्यार्थी के बिना कुछ भी नहीं है, प्रस्थिति अपने स्वयं में अर्थहीन है।

3. **समाज में स्तरीकरण का सूचकः** प्रस्थिति समाज के स्तरीकरण का सूचक है, अर्थात् कुछ लोगों की प्रस्थिति निम्न तो कुछ की उच्च होती है। सामान्यता जिन समाजों में श्रम विभाजन बहुत सामान्य या कम होता है, उन समाजों में प्रस्थितियाँ कम या न्यूनतम होती है। नगर जितना महानगर होगा उतना ही औद्योगिकरण एवं श्रम विभाजन भी होगा, उतना ही प्रस्थितियों में भी उच्चता एवं निम्नता का स्तर पाया जाएगा। समाज में स्तरीकरण में वृद्धि होगी एवं प्रस्थितियों में भी परिवर्तन आएगा।

4. **प्रतिष्ठा सूचकः** प्रतिष्ठा पद से जुड़ी होती है, पद प्रस्थिति से और प्रस्थिति के साथ कार्य संपादन जुड़ा होता है। कुछ पदों का महत्व अधिक होता है, यह पद समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान दिलाते हैं। सभी पदों में सम्मान एवं महत्व की मात्रा अलग–अलग होती है। जिस प्रस्थिति के कार्य समाज के लिए अधिक महत्वपूर्ण होते है। उस प्रस्थिति की प्रतिष्ठा अधिक होती है। उदाहरण के लिए क्लर्क पद की तुलना में प्रोफेसर पद की प्रतिष्ठा अधिक होती है। प्रस्थिति उच्च हो या निम्न बिना प्रतिष्ठा के नहीं होती है। प्रतिष्ठा को

प्रस्थिति से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

5. **भूमिका का निर्धारकः** प्रस्थिति भूमिका की निर्धारक होती है। प्रत्येक प्रस्थिति के पीछे उसको कायम रखने के लिए उससे संबंधित भूमिका निर्धारित होती है। व्यक्ति एक से अधिक प्रस्थिति प्राप्त करता है, तो भूमिका भी एक से अधिक निर्वहन करने होते हैं। प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण समाज के सांस्कृतिक मूल्यों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप किया जाता हैं कि अमुक व्यक्ति को कौन सी प्रस्थिति प्रदान की जाएगी और वह क्या भूमिका निभाएगा।
6. **प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थितिः** प्रस्थितियां प्रदत्त एवं अर्जित दोनों ही प्रकार की होती हैं। नातेदारी एवं संबंध प्रदत्त प्रस्थिति है तो योग्यता के आधार पर प्राप्त की गई प्रस्थिति अर्जित प्रस्थिति है। प्रदत्त प्रस्थिति को समाज स्वयं व्यक्ति को प्रदान करता है जो प्रदत्त है। कुछ प्रस्थिति प्रयत्नों के द्वारा प्राप्त की जाती है, जो अर्जित प्रस्थिति है। जैसे पिता पुत्र प्रदत्त प्रस्थिति है, तो चिकित्सक अध्यापक अर्जित प्रस्थिति है।
7. **परिवर्तनशीलः** प्रस्थितियां परिवर्तनशील प्रकृति की होती है। एक समय के बाद प्रस्थिति में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। जैसे एक व्यक्ति का पुत्र से पिता, पिता से दादा बन जाना एवं एक अध्यापक का प्राचार्य बन जाना। प्रस्थिति में परिवर्तन के साथ ही भूमिका में भी परिवर्तन हो जाता है।

प्रस्तिथियों के प्रकार

प्रस्थितियों के विद्वानों ने दो प्रकार बताए हैः

1. **प्रदत्त प्रस्थितिः** समाज में कुछ प्रस्थितियां ऐसी होती है जो व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त हो जाती है, जिसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को किसी भी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है, यह प्रदत्त प्रस्थिति कहलाती है। समाज में मान्य या प्रचलित मानदंडों के आधार पर प्रदत्त प्रस्थिति प्राप्त होती है। विश्व के सभी समाजों में

प्रस्थिति पाई जाती है। प्रदत्त प्रस्थिति को प्राप्त करने में व्यक्ति का कोई नियंत्रण नहीं रहता है, जैसे स्त्री या पुरुष होना, बालक या युवा होना, नातेदारी, प्रजाति इत्यादि। आधुनिक एवं नगरी समाजों की तुलना में आदिम परंपरागत एवं ग्रामीण समाजों में प्रदत्त प्रस्थितियों का महत्व अधिक होता है।

प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण के आधार

प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति के जन्म से निर्धारित होती है, अर्थात् प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति के हाथ में नहीं होती है। स्त्री या पुरुष होना, आयु का निर्धारित होना यह सभी प्रदत्त प्रस्थिति है। इसके कुछ निर्धारण के आधार हैं, जो निम्न हैः

1. **लिंगभेदः** सभी समाजों में कुछ पद पुरुषों के लिए और कुछ पद स्त्रियों के लिए निर्धारित होते हैं। लिंग भेद के आधार पर प्रस्थिति का निर्धारण प्रायः सभी समाजों में पाया जाता है। स्त्री–पुरुष के कार्य एवं उनसे अपेक्षाएं भिन्न–भिन्न होती हैं।मातृ सत्तात्मक समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों के मुकाबले ऊंची होती है, पितृसत्तात्मक समाज में नीचे। कुछ अधिकार पुरुषों को प्राप्त होते हैं तो कुछ अधिकार स्त्रियों को प्राप्त होते हैं। यही उनकी प्रस्थिति के निर्धारण का आधार होता है। परंतु वर्तमान में लिंग भेद पर बहस छिड़ी है। इनकी समाप्ति पर आंदोलन भी किए गए हैं। स्त्री पुरुष समानता की बात हो रही है, मगर यह एक जैविकीय विभेद है।
2. **आयु भेदः** समाज की सभी संस्कृतियों में आयु के आधार पर प्रस्थिति में भेद पाया जाता है। सामान्यतः बड़े लोग छोटी उम्र के लोगों के लिए आदरणीय होते हैं। परंपरागत समाज में प्रस्थिति निर्धारण में आयु को अधिक महत्व दिया जाता है। छोटे बच्चों की अपेक्षा वयस्क व्यक्ति उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार करते हैं। नौकरियों में भी आयु प्रस्थिति का एक निर्धारक आधार है। इसी प्रकार से मत देने, उम्मीदवार होने, सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए भी एक निश्चित आयु प्राप्त करना आवश्यक है। आयु के साथ ही भूमिका

में भी परिवर्तन आता है।

3. **नातेदारी संबंधः** नातेदारी संबंध उस संबंध को कहते हैं जो हमारे जन्म के परिवार तथा विवाह के परिवार के लोगों से होते हैं। एक व्यक्ति का अपने माता–पिता एवं रक्त संबंधों से संबंध होता है। उनसे संबंधित होने के कारण ही वह अनेक प्रस्थिति प्राप्त करता है। परिवार तथा नातेदारी में कई प्रस्थितियां प्रदत्त होती हैं। नातेदारी संबंध जैविकीय एवं सांस्कृतिक दोनों ही तथ्यों का मिश्रित रूप है। राजा का पुत्र राज पद ग्रहण करता था। व्यक्ति अपने माता–पिता का वर्ग, धर्म एवं व्यवसाय भी ग्रहण करते हैं। भारत में जाति का आधार जन्म ही है। नातेदारी के साथ व्यक्ति के कुछ अधिकार एवं दायित्व भी जुड़े होते हैं। उनकी उच्च एवं निम्न स्थिति के अनुसार बच्चे को भी सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है।
4. **जाति एवं प्रजातिः** भारत में जाति व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण का प्रमुख आधार है, जो प्रदत्त प्रस्थिति का एक उदाहरण है। ऊँची जातियों में जन्म लेने वालों की स्थिति सुदृढ़ एवं उच्च मानी जाती है। निम्न जाति में जन्म लेने वालों की सामाजिक स्थिति निम्न मानी जाती है। इसी प्रकार काले एवं गौरे प्रजातियों की स्थिति भी सामाजिक धारणा के अनुरूप आँकी जाती है। जाति एवं प्रजाति के आधार पर ही सामाजिक प्रस्थिति तथा भूमिका निर्धारित होती है।
5. **परंपरागत आधारः** समाज में कुछ प्रस्थितियां ऐसी होती है जो विशुद्ध रूप से परंपरागत होती है। पुराने कालों में व्यक्ति को राजा या जागीरदार की प्रस्थिति परंपरा से प्राप्त हो जाती थी। राजा का ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता था। ऐसी प्रदत्त प्रस्थिति का एकमात्र आधार परंपरागत ही होता है। सभी सामाजिक समूहों में परंपराएं एक समान नहीं होती है, वैसे ही परंपरागत प्रस्थिति भी एक समान नहीं होती है।
6. **जन्मः** जन्म भी प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण का मुख्य आधार है। व्यक्ति का जन्म किस परिवार, जाति अथवा प्रजाति में हुआ है इसी

आधार पर भी प्रस्थिति का निर्धारण होता है। माता–पिता का जन्म एक ही जाति में हुआ है तो उसमें बालकों की प्रस्थिति उन बालकों से भिन्न होगी जिनके माता–पिता का जन्म अलग–अलग जातियों में हुआ है। किसी विशेष स्थान पर जन्म का होना भी प्रस्थिति को अलग–अलग आयाम प्रदान करते हैं।

2. अर्जित प्रस्थिति

अर्जित प्रस्थिति वह प्रस्थिति होती है जिसे व्यक्ति अतिरिक्त मेहनत, गुण, प्रयास, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर प्राप्त करता है। हर्टन एवं हंट के अनुसार ''एक सामाजिक पद जिसे व्यक्ति अपनी इच्छा एवं योग्यता तथा प्रतिस्पर्धा के द्वारा प्राप्त करता है अर्जित प्रस्थिति के नाम से जाना जाता है।'' शिक्षा, व्यवसाय, धन, विवाह, श्रम विभाजन आदि का संबंध अर्जित प्रस्थितियों से है। आधुनिक समाज में जहाँ जन्म के स्थान पर व्यक्ति के गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है वहां अर्जित प्रस्थिति अधिक पाई जाती है। द्वितीयक समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। इन समूहों में व्यक्तिय अर्जित पदों को प्राप्त करता है। अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की स्वयं की प्राप्ति होती है जिसे वह अपनी पसंद से प्राप्त करता है।

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण के आधार

चूँकि अर्जित प्रस्थिति गुण एवं क्षमता–योग्यता पर आधारित है, परंतु इसके कुछ निर्धारण के आधार हैं। इन आधारों पर ही व्यक्ति को सम्मान, अधिकार एवं लाभ प्राप्त होते हैं। यहां पर यह बताना आवश्यक है कि सभी व्यक्तियों की रूचि, योग्यता एवं क्षमता भिन्न–भिन्न होती है और व्यक्ति इसी भिन्नता के आधार पर प्रस्थिति अर्जित करता है। अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण के आधार निम्न हैः

1. **संपत्तिः** व्यक्ति के पद का निर्धारण करने में संपत्ति एक महत्वपूर्ण कारक है। संपत्ति पर अधिकार होने के आधार पर ही व्यक्ति की ऊंची या नीची प्रस्थिति होती है। अक्सर गरीब की तुलना में पूंजीपति की सामाजिक प्रस्थिति ऊंची होती है। आधुनिक युग में

जिन लोगों के पास भौतिक सुख सुविधाएं अधिक होती है वे ऊंचे माने जाते हैं।संपत्ति योग्यता के आधार पर भी अर्जित की जाती है और पैतृक भी होती है।

2. **व्यवसायः** व्यवसाय भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण करता है। आईएएस, डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि का पद या व्यवसाय चपरासी, मिल मजदूर, कृषक एवं अन्य तृतीय–चतुर्थ वर्ग के कर्मचारी से ऊंचा माना जाता है। व्यवसाय भी व्यक्ति अपनी योग्यता के आधार पर प्राप्त करता है।

3. **शिक्षाः** शिक्षा का अधिकार सभी को प्राप्त है। इसके बावजूद है। अशिक्षित की तुलना में शिक्षित व्यक्ति की प्रस्थिति ऊंची होती है। शिक्षित में भी उच्च शिक्षा या प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति भी कम पढ़े लिखे व्यक्ति से ऊंची मानी जाती है। व्यवसाय की दृष्टि से प्रशिक्षण का महत्व अधिक होता है।

4. **उपलब्धियांः** व्यक्ति द्वारा खुद के परिश्रम से प्राप्त विभिन्न उपलब्धियां उसकी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण करती है। यह उपलब्धियां धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं खेलकूद आदि के क्षेत्र में हो सकती है। इसलिए अच्छे खिलाड़ी, वैज्ञानिक, साहित्यकार, संगीतकार, कलाकार, कवि, आदि की सामाजिक प्रस्थिति ऊंची होती है। व्यक्ति अपने जीवन में किसी भी क्षेत्र पर उपलब्धियां हासिल कर सकता है। यह सभी उसकी अर्जित प्रस्थिति कहलाएगी।

5. **विवाहः** विवाह भी व्यक्ति को कई प्रस्थितियां प्रदान करती है। विवाह करने पर ही पति–पत्नी, माता–पिता एवं अन्य प्रस्थितियां जैसे जीजा, जमाई, बहू, भाभी आदि प्राप्त की जाती है। सजातीय एवं अंतर जाति विवाह करने पर एवं एक विवाह तथा बहु विवाह करने पर समाज में भिन्न–भिन्न सामाजिक प्रस्थितियां प्रदान की जाती है।

6. **राजनीतिक सत्ताः** राजनीतिक सत्ता के आधार पर शासन एवं शासित में भेद किया जाता है। साधारण जनता की अपेक्षा सत्ता एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति ऊँची होती है। राजनीति में भी विभिन्न पदों के आधार पर उच्च एवं निम्न प्रस्थिति प्रदान की जाती है। यहां पर भी राजनीतिक योग्यता एवं क्षमता के आधार पर पद प्राप्त होते हैं।

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थिति में अंतर

प्रस्थिति मानव जीवन से जुड़ा एक सम्मानित पद है। वर्तमान समय में प्रदत्त एवं अर्जित दोनों प्रकार की प्रस्थितियां समाज में बनी हुई है। सैद्धांतिक रूप से प्रस्थितियों में तो दोनों एक दूसरे के विपरीत एवं विरोधी प्रकृति के प्रतीत होते हैं। किन्तु दोनों में संबंध भी पाया जाता है। संक्षेप में दोनों प्रस्थितियों के अंतर को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है।

1. **जन्म के आधार परः** व्यक्ति को प्रदत्त प्रस्थिति जन्म से प्राप्त होती है, किंतु अर्जित प्रस्थिति का जन्म से कोई संबंध नहीं रहता है।अर्जित प्रस्थिति किसी भी उम्र में प्राप्त की जा सकती है। व्यक्ति का किसी भी स्थान या जाति–प्रजाति में जन्म लेना अर्जित प्रस्थिति को प्रभावित नहीं करता है।
2. **प्रकृति के आधार परः** प्रदत्त प्रस्थिति की प्रकृति स्थायित्व की होती है अर्थात स्थाई होती है। जबकि अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की क्षमताओं एवं गुणों पर आश्रित होती है। अतः इसकी प्रकृति अस्थाई होती है। क्षमता एवं गुणों की समाप्ति पर यह नष्ट हो सकती है।
3. **महत्त्व के आधार परः** प्रदत्त प्रस्थिति का महत्व परंपरागत समाजों में अधिक होता है, आधुनिक समाजों में अर्जित प्रस्थिति अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है।
4. **सांस्कृतिक आधार परः** प्रदत्त प्रस्थिति में समाज के मूल्य, विश्वास एवं भावनाएं जुड़ी होती है। अर्जित प्रस्थिति में इन सभी बातों का कोई महत्व नहीं होता, यहां भावना और मूल्यों की

परिभाषा अन्य होती है।

5. **प्रतिस्पर्धा के आधार पर:** प्रदत्त प्रस्थिति में किसी भी प्रकार की प्रतिस्पर्धा को स्थान नहीं दिया जाता है, जबकि अर्जित प्रस्थिति प्राप्त करने हेतु व्यक्ति को प्रतिस्पर्धा में विजेता होना पड़ता है, जो कि बिना परिश्रम और मेहनत के प्राप्त नहीं होते।
6. **सुरक्षा के आधार पर:** प्रदत्त प्रस्थिति की प्रकृति स्थाई होती है, अतः यह व्यक्ति में सुरक्षा की भावना प्रदान करती है। लेकिन अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति को सुरक्षा की भावना प्रधान नहीं करती क्योंकि उसकी प्रकृति अस्थाई होती है।
7. **अधिकार के आधार पर:** प्रदत्त प्रस्थिति के मुख्य आधार जन्म, लिंग, आयु, जाति, नातेदारी आदि होते हैं, जबकि अर्जित प्रस्थिति के आधार शिक्षा, व्यवसाय, खेलकूद की योग्यता, साहस तथा अन्य अधिकार प्रमुख हैं।
8. **इच्छा के आधार पर:** प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की इच्छा के आधार पर निर्भर नहीं करती, परंतु अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करती है।
9. **भूमिकाओं के आधार पर:** भूमिकाओं के आधार पर भी दोनों प्रस्थितियों में काफी अंतर पाया जाता है। प्रदत्त प्रस्थिति की भूमिका में परिवर्तन कम आता है, लेकिन अर्जित प्रस्थिति की भूमिकाओं पर अधिक परिवर्तन देखा गया है।

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थिति एक–दूसरे के विपरीत नहीं है, यह दोनों ही प्रस्थिति एक–दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही प्रस्थिति सामाजिक संरचना से उत्पन्न हुए हैं एवं सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से जुड़े हुए हैं। जब प्रस्थिति बदलती है तो समाज में भी बदलाव आता है। प्रस्थिति के बदललने से भूमिका में भी बदलाव आता है। प्रस्थिति को समझने के बाद हम भूमिका पर प्रकाश डालते हैं।

––==00==––

भूमिका

प्रत्येक समाज चाहे वह आदिम समाज हो या आधुनिक समाज उनका निर्माण अनेक संस्थाओं एवं समूहों से होता है। इन संस्थाओं और समूहों की एक निश्चित संरचना होती है। प्रत्येक व्यक्ति समाज की संरचना में पदों एवं कार्यों की अंतः संबंधों पर आधारित होता है। व्यक्ति अपने पद के अनुरूप जिन कार्यों का संपादन करता है उसे ही उसकी भूमिका के नाम से जाना जाता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ कार्य भी संबद्ध रहते हैं। सामान्यता उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी प्रस्थिति के अनुसार कार्य करें। किसी भी प्रस्थिति में संबद्ध दायित्व को ही समाजशास्त्र में भूमिका कहा जाता है।

भूमिका का अर्थ

किसी व्यक्ति द्वारा अपनी प्रस्थिति के अनुरूप कार्य करना ही भूमिका कहलाता है। जिस प्रकार प्रस्थिति का निर्धारण समाज या संस्था करती है, उसी प्रकार प्रस्थिति से संबंधित कर्तव्य, दायित्व या व्यवहारों का निर्धारण संबंधित समाज या संस्था करती है। व्यक्ति जब उसके अनुसार कार्य व्यवहार करता है, वही भूमिका के नाम से जाना जाता है। विशेषकर भूमिका किन्हीं कार्यों को संपन्न करने में साधन का काम करती है। भूमिका प्रस्थिति का सक्रिय रूप है एवं गत्यात्मक पहलू है। प्रत्येक भूमिका मानदंडों से जुड़ी होती है। हम भूमिका के माध्यम से ही एक दूसरे से जुड़े होते हैं और समाज में अपनी पहचान बनाते हैं। भूमिका ही समाज में व्यक्ति का नाम एवं स्थान निर्धारित करता है।

भूमिका की परिभाषा

विद्वानों द्वारा दी गई भूमिका की परिभाषा निम्न हैः

फेयरचाइल्ड के अनुसार, ''भूमिका किसी भी व्यक्ति या समूह का वह अपेक्षित व्यवहार है जो समूह या संस्कृति द्वारा परिभाषित किया गया हो।''

डेविस के अनुसार, ''भूमिका वह कार्य है जिसके द्वारा व्यक्ति

अपनी प्रस्थिति संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।''

लिंटन के अनुसार, ''भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित सांस्कृतिक प्रतिमानों की समग्रता के लिए किया जाता है।''

भूमिका की विशेषताएं

भूमिका की मुख्य विशेषताओं को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है:

1. **सामाजिक स्वीकृतिः** भूमिका का संपादन व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर नहीं करता, अपितु इसका निर्धारण समाज की स्वीकृति पर आधारित होता है। इसका महत्वपूर्ण कारण है कि भूमिका का निर्धारण समाज या समूह के मानदंडों के अनुरूप होता है।संस्कृति के नियम शामिल रहते हैं। समाज जिसे अस्वीकृत कर देता है व्यक्ति उस भूमिका का निर्वहन नहीं कर सकता।
2. **एक ही व्यक्ति विभिन्न भूमिका निभाता हैः** एक व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न भूमिका निभाता है। जैसे एक व्यक्ति घर पर पिता, पति, पुत्र की भूमिका निभाता है, तो अपने कार्य क्षेत्र में कर्मचारी अफसर या व्यवसायी की भूमिका निभाता है, मित्र मंडली में उसकी भूमिका अलग होती है।
3. **गतिशील अवधारणाः** सामाजिक भूमिका की अवधारणा स्थिर ना होकर गतिशील है। गतिशीलता के कारण ही इसमें समय–समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। सामाजिक परिवर्तन के साथ ही प्रस्थिति में परिवर्तन आता है और भूमिका में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। परिपक्वता के साथ ही भूमिका में भी बदलाव आता है।
4. **सामाजिक व्यवहार की सीमाएं निर्धारितः** सामाजिक संगठन एवं सामाजिक जीवन के लिए भूमिका का विशेष महत्व है। इसी कारण व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार की सीमाएं निर्धारित होती है तथा संपूर्ण समाज व्यवस्थित रूप से चलता रहता है। सीमाएं निर्धारित नहीं होने से निरंकुशता का समावेश भूमिका में हो

जाएगा।

5. **भूमिका के अंतर्गत अधिकार एवं दायित्व का समावेशः** भूमिका के अंतर्गत कुछ अधिकार समाज द्वारा प्रदान किए जाते हैं, वहीं पर कुछ उत्तरदायित्व भी सौंपे जाते हैं। दोनों का निर्वाह साथ–साथ चलता है। दोनों की मात्राएं समान होती है, केवल अधिकारों का प्रयोग करने से उस में कटौती हो सकती है।
6. **भूमिकाओं की असमान प्रकृतिः** भिन्न–भिन्न भूमिकाओं की भिन्न–भिन्न प्रकृति होती है। यही प्रकृति भूमिका निर्वहन में सहायक होती है एवं भूमिका को पहचान एवं नाम प्रदान करती है।
7. **भूमिकाओं की विविधताः** भूमिका में विविधता पाई जाती है। एक ही क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों को भिन्न–भिन्न प्रकार की भूमिकाओं का संपादन करना पड़ता है। एक व्यक्ति को अनेक व्यक्तियों के साथ एवं अनेक संस्थाओं में अलग–अलग प्रकार की भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। जैसे परिवार, शिक्षण संस्था, आर्थिक संगठन आदि में व्यक्ति की भूमिका में भिन्नता होती है।
8. **भूमिका के स्वरूप का निर्धारण सांस्कृतिक मान्यताः** भूमिका के स्वरूप या प्रतिमान का निर्धारण सामाजिक–सांस्कृतिक मान्यताओं द्वारा होता है। कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से अपनी निर्धारित भूमिका में परिवर्तन नहीं कर सकता है।
9. **भूमिका प्रस्थिति में निहित होती हैः** सभी भूमिकाएं किसी ना किसी प्रस्थिति में निहित होती है। प्रस्थिति भूमिका को परिभाषित करती है, कि उक्त प्रस्थिति में व्यक्ति की क्या भूमिका होगी। र्प्रस्थिति से अलग रखकर भूमिका की कोई चर्चा नहीं हो सकती। अनेक प्रस्थिति अनेक भूमिकाओं का निर्माण करती है।

भूमिका के प्रकार

प्रस्थिति की तरह भूमिका के भी मुख्य रूप से दो ही प्रकार हैं, परंतु कुछ विद्वानों ने भूमिका के अन्य प्रकार भी गिनाए हैं। भूमिका के मुख्य

प्रकार हैं:

1. **प्रदत्त भूमिका:** इनका संबंध प्रदत्त प्रस्थिति से होता है। जैसे प्रदत्त प्रस्थिति होती है वैसे ही प्रदत्त भूमिका भी होती है। जैसे पति–पत्नी, माता–पिता, भाई–बहन, मामा–मामी, राजा, बालक, युवा एवं जाति की प्रदत्त भूमिकाएं। जो प्रस्थितियां प्रदत्त प्रस्थितियां होती हैं, उन प्रदत्त प्रस्थितियों के पीछे का कार्य निर्वहन ही प्रदत्त भूमिका के अंतर्गत आता है।
2. **अर्जित भूमिका:** अर्जित भूमिकाओं का संबंध अर्जित प्रस्थितियों से होता है। जैसे प्राध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर, उद्योगपति, खिलाड़ी, नेता आदि अर्जित प्रस्थिति हैं। इनके पीछे जो कार्य दायित्व निभाने होते हैं, वही अर्जित भूमिका के अंतर्गत आते हैं।

विद्वानों द्वारा दी गई भूमिका के प्रकार निम्न हैं:

रॉल्फ लिंटन ने दो प्रकार की भूमिका बताई है।

1. प्रदत्त भूमिका, 2. अर्जित भूमिका

बीरस्टीड ने भी दो प्रकार बताए हैं।

1. प्रमुख भूमिका, 2. सामान्य भूमिका

नाडेल ने भी दो प्रकार की भूमिका का उल्लेख किया है।

1. संबंधात्मक भूमिका, 2. गैर–संबंधात्मक भूमिका

माइकल बेटन ने भूमिका के तीन प्रकार बताए हैं।

1. बुनियादी भूमिका, 2. सामान्य भूमिका, 3. स्वतंत्र भूमिका

न्यूकॉम एवं माइकल बेटन ने भी भूमिका के दो प्रकार बताए है।

1. अपेक्षित भूमिका, 2. वास्तविक भूमिका

भूमिका से संबंधित अवधारणा

भूमिका से संबंधित अवधारणाओं को निम्न बिंदुओं द्वारा दर्शाया गया है:

1. **भूमिका पालन:** जब व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित प्रतिमानों के

अनुरूप अपनी भूमिका निभाता है, तो उसे भूमिका पालन करना कहा जाता है। समाज में सभी व्यक्तियों को चाहे वह पुत्र हो या पिता, अध्यापक हो या डॉक्टर सभी को हम अपनी–अपनी भूमिका का पालन करते देखते हैं।

2. **भूमिका ग्रहणः** इस प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति विशिष्ट भूमिका को निभाना सीखता है। जैसे सेना में भर्ती होने पर एक व्यक्ति सैनिक की भूमिका निभाना सीखता है या पद ग्रहण के पूर्व अभ्यर्थी द्वारा उस पद की भूमिका को सीखना भूमिका ग्रहण कहलाता है।
3. **अभिनय की भूमिकाः** इस प्रक्रिया में व्यक्ति किसी अन्य पात्र की भूमिका का अभिनय करता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति राम लीला, कृष्ण लीला में राम, रावण, कृष्णा अथवा कंस की भूमिका का अभिनय करता है, तो उसे ही अभिनय की भूमिका कहते हैं।
4. **भूमिका वंचनः** जब एक व्यक्ति एक प्रस्थिति को छोड़कर दूसरी प्रस्थिति धारण करता है, तो उसे अपनी पहले की प्रस्थिति से संबंधित भूमिका त्यागनी पड़ती है, इसे ही भूमिका वंचन कहते हैं।
5. **असफल भूमिकाः** जब एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका निभाने में असफल रहता है, तब उसे असफल भूमिका कहा जाता है। प्रत्येक प्रकार की भूमिका के सफल निर्वहन के लिए विशेष प्रकार के गुणों की आवश्यकता होती है, जिनमें यह गुण नहीं होते वे लोग अपनी भूमिका निभाने में असमर्थ होते हैं।
6. **भूमिका प्रत्याशाः** एक पद धारण करने के फल स्वरुप समाज व्यक्ति से जिस प्रकार की भूमिका की अपेक्षा करता है, उसे भूमिका प्रत्याशा कहते हैं। कई बार भूमिका प्रत्याशा और व्यक्ति द्वारा निभाई जाने वाली वास्तविक भूमिका में अंतर होने पर समाज में अव्यवस्था पैदा हो जाती है।
7. **भूमिका संघर्षः** कई बार व्यक्ति को दो भिन्न प्रस्थितियों की भूमिका एक साथ निभानी होती है और यदि उनमें विरोधाभास है तो उसे हम भूमिका संघर्ष कहते हैं। जैसे एक न्यायाधीश के समक्ष उसके

पुत्र को ही अपराधी के रूप में लाया जाता है, तब वह पिता या न्यायधीश दोनों की भूमिका निभाने में असमर्थ होता है, दोनों भूमिकाओं में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

8. **भूमिका संक्रमणः** जब एक व्यक्ति एक भूमिका को पूर्णरूपेण त्याग कर दूसरी भूमिका को ग्रहण करता है, उस बीच की स्थिति को भूमिका संक्रमण की स्थिति कहा जाता है। इस स्थिति में भूमिका तनाव की संभावनाएं रहती है।
9. **भूमिका बाधाः** भूमिका के पालन के साधक तत्वों के अभाव में भूमिका को संपन्न करने में बाधा उत्पन्न होती है, ऐसी स्थिति को भूमिका बाधा कहते हैं। जैसे विद्यार्थियों के लिए पुस्तकालय का अभाव।
10. **भूमिका स्ववृत्तिः** व्यक्ति का किसी विशेष भूमिका के निर्वाह की अधिक रुचि भूमिका स्ववृत्ति कहलाती है। उदाहरण स्वरूप किसी को खेल में रुचि, कविता लिखने का शौक आदि। भूमिका स्ववृत्ति का संबंध व्यक्तित्व से जुड़ा होता है।

प्रस्थिति और भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व

प्रस्थिति और भूमिका का व्यक्ति एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से निम्नांकित महत्व हैः

1. प्रस्थिति और भूमिका मिलकर ही समाज व्यवस्था का निर्माण करती है और सामाजिक संगठन को सुचारू रूप से चलाने के लिए इनमें पारस्परिक संतुलन का होना आवश्यक है।
2. प्रस्थिति एवं भूमिका समाज में श्रम विभाजन कर सामाजिक कार्यों को सरल बना देती है।
3. प्रस्थिति एवं भूमिका सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने में योगदान देती है, क्योंकि प्रत्येक प्रस्थिति एवं भूमिका से संबंधित सामाजिक प्रतिमान एवं नियम होते हैं और व्यक्ति से उनके अनुरूप आचरण करने की अपेक्षा की जाती है।

4. यह व्यक्ति का समाजीकरण करने में भी मदद करते हैं, क्योंकि व्यक्ति के जन्म से पूर्व ही यह समाज में विद्यमान होते हैं एवं व्यक्ति उनके अनुसार आचरण करता है।
5. प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति की क्रियाओं का मार्गदर्शन करते हैं और उसे बताते हैं कि किसी प्रस्थिति में किस प्रकार की भूमिका निभानी है।
6. भूमिकाओं के निर्वाह से समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकताएं पूरी होती रहती है, जिससे समाज में निरंतरता एवं स्थिरता बनी रहती है।
7. एक प्रस्थिति एवं उससे संबंधित भूमिका व्यक्ति में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति को जन्म देते हैं।
8. प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति में जागरूकता एवं उत्तरदायित्व की भावना पैदा करती है।
9. प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति को प्रयत्न करने की प्रेरणा देते हैं, जिससे वह मनचाही प्रस्थिति एवं भूमिका प्राप्त कर सके।
10. इनके द्वारा हम किसी भी व्यक्ति के व्यवहार का पूर्व अनुमान लगा सकते हैं। जैसे यदि कोई व्यक्ति प्रधानमंत्री बनता है तो हम उसकी भूमिका एवं कार्यों का पूर्व अनुमान लगा सकते हैं, क्योंकि संविधान एवं सामाजिक संस्था द्वारा उसके कार्य निर्धारित कर दिए गए हैं।

वर्तमान समय में सामाजिक व्यवस्था में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। यही कारण है कि प्रस्थिति एवं भूमिका में भी कुछ मात्रा में असंतुलन उत्पन्न हो गया है। इन सब के बावजूद हमारे सामाजिक संगठन के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान होता है। योगदान का स्तर भिन्न हो सकता है, मगर प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित प्रस्थिति एवं निश्चित भूमिका निर्धारित होती है। जब हम किसी अनजान व्यक्ति से मिलते हैं तो यह जानने का प्रयास करते हैं कि उसकी प्रस्थिति क्या है, उसी के अनुरूप हम व्यवहार करते हैं। प्रस्थिति एवं भूमिका दोनों ही समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

––==00==––

इकाई 2

विवाह
परिवार
नातेदारी
संस्कृति
सामाजिकरण
सामाजिक नियंत्रण
प्रतिमान और मूल्य

विवाह

भूमिका

विवाह एक सामाजिक सांस्कृतिक संस्था है। यह वह आधार स्तंभ है। जिसके द्वारा मानव का अस्तित्व बना हुआ है। समाज की निरंतरता का अधार संतान है और संतान की उत्पत्ति जन्म पर आधारित होती है। विवाह वह संस्था है जिसके द्वारा दो विषम लिगियों को यौन जीवन व्यतीत करने और संतानोत्पत्ति करने और उनका भरण पोषण करने की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है। सामाज द्वारा लैगिंक संबंधों को कानून एवं प्रथाओं द्वारा नियमित करने के उद्देश्य से ही विवाह नामक संस्था का प्रार्दुभाव हुआ है। प्रत्येक समाज के सांस्कृतिक तथा सामाजिक नियमों का प्रभाव विवाह पर पड़ता है। जिसके कारण इसके उद्देश्यों में भिन्नता होती है। कुछ समाज इसे प्रथा मानते है जिसका निर्वाह जीवन भर करना पड़ता है। तो कुछ समाज विवाह को कानूनी एवं सामाजिक समझौता मानते है। कुछ समाजों में विवाह धार्मिक स्वीकृति है। इसी अलग–अलग उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विवाह नामक संस्था को समाज में महत्वपूर्ण माना गया है। जैसे हिन्दू समाज में धर्म की रक्षा करना इसाई धर्म में विवाह को यौन संतुष्टि तो मुस्लिम समाजो में एक सामाजिक समझौता और वैध संतानों को जन्म देना मानते है। जनजाति समाज में भी विवाह के अलग–अलग उद्देश्य होते है।

भारतीय समाज में वैवाहिक संबंध एक अपनी विशिष्ट पहचान बनाये हुये है। संबंधित महिला और पुरूष के व्यक्तिगत जीवन से जुड़ा होने के कारण विवाह दोनों पक्षों के पारम्परिक एवं पारस्परिक दुख–सुख का साझेदार बना देता है। हमारे परम्परा प्राधान समाज में विवाह एक ऐसी धार्मिक और सामाजिक संस्था है। जो किसी भी महिला और पुरूष को एक साथ जीवन व्यतीत करने का अधिकार देने के साथ–साथ दोनों को कुछ महत्वपूर्ण कर्त्तव्य भी प्रदान करती है। हिन्दू मान्यता के अनुसार विवाह एक धार्मिक और पवित्र संबंध माना जाता है। जिसका अनुसरण पारिवारिक

रीति–रिवाजों के द्वारा किया जाता है। प्राचीन युनान, रोम, भारत आदि सभी सभ्य देशों में विवाह को धार्मिक बंधन एवं कर्त्तव्य माना गया है। वैदिक काल से ही विवाह को समाज द्वारा मान्यता प्रदान किया गया है।

विवाह का अर्थ

विवाह समाज द्वारा स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त एक सामाजिक संस्था है। यह समाज का निर्माण करने वाली सबसे छोटी इकाई परिवार का मूल है। यह मानव प्रजाति के सातत्य को बनाये रखने का प्रधान जीवन शास्त्रीय माध्यम है। विवाह का शाब्दिक अर्थ है (उद्वह अर्थात् वधु को वर के घर ले जाना) विवाह का दूसरा अर्थ समाज में प्रचलित एवं स्वीकृत विधियों द्वारा स्थापित किया जाने वाला दाम्पत्य संबंध तथा पारिवारिक जीवन भी होता है। विवाह समाज में नवजात प्राणियों की स्थिति का निर्धारण करके परिवार को आगे बढ़ाने का साधन भी है।

विवाह की परिभाषा

विभिन्न समाजशास्त्रीयों द्वारा विवाह की परिभाषाएं निम्नलिखित प्रकार से दी गई हैः

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, ''विवाह एक प्रजनन मूलक परिवार की स्थापना का सामाज द्वारा स्वीकृत तरीका है।''

लूसी मेयर के शब्दों मे, ''विवाह स्त्री–पुरूष का एक ऐसा योग है। जिसमें स्त्री से जन्मी संतान माता–पिता की वैध संतान मानी जाती है।''

बोगार्डस् के अनुसार, ''विवाह स्त्री और पुरूष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश की संस्था है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विवाह एक सामजिक संस्था है। जिसमें समाज द्वारा स्थापित किये गये मापदण्डों का पालन करना अनिवार्य होता है। विवाह के पश्चात् उत्पन्न संतान को ही वैध माना जाता है। स्त्री और पुरूष को विवाह के बाद कुछ सामाजिक दायित्वो का निर्वहन करते हुये पति–पत्नि के रूप में दो परिवारों को संबंधियों के रूप में जोड़ते

है। विवाह ही परिवार और समाज को स्थायित्व प्रदान करता है। विवाह के उद्देश्यों को पूर्ण कर सफल दाम्पत्य जीवन का निर्माण करते है।

विवाह की विशेषताएं

1. **दो विषम लिंगियों का संबंधः** विवाह दो विषम लिंगियों का आपस में संबंध होता है। एक स्त्री एवं एक पुरूष विवाह के बंधनों में बंधकर नये दायित्वों का निर्वाह करते है। एवं परिवार नामक संस्था का निर्माण करते है। समाज में स्त्री एवं पुरूष को विवाह के माध्यम से स्थायी सदस्यता प्राप्त होती है। जो किसी समाज एवं समुदाय को बनाये रखने के लिए आवश्यक प्रतिमान है।
2. **सार्वभौमिक सामाजिक संस्थाः** विवाह सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है जो सभी समाजों में किसी न किसी रूप में मौजूद है। विवाह की सार्वभौमिकता ही विवाह की विशेषता है। विवाह का प्रकार स्वरूप चाहे भिन्न हो परंतु विवाह बंधन किसी भी अविवाहित स़्त्री एवं पुरूष के लिए आवश्यक होता है। जिससे वे सामाजिक बंधनों में बंध सके।
3. **वैध संतानो की उत्पत्तिः** विवाह के उपरांत जन्में बालक को ही परिवार एवं समाज द्वारा वैध माना जाता है। इसलिए विवाह की महत्ता और भी बढ़ जाती है। वैध संतान ही परिवार एवं समाज में महत्वपूर्ण भूमिकाओं और दायित्वों के अधिकारी होते है। वैध संतानो की उत्पत्ति करना समाज की निरंतरता को बनाये रखता है।
4. **संतानो का लालन पालन एवं सामाजिकरणः** विवाह द्वारा ही संतानों का लालन–पालन एवं सामाजिकरण संभव होता है। लालन पालन करने में माता–पिता का एवं परिवार के अन्य सस्दयों का होना आवश्यक है। जो विवाह के द्वारा ही जुड़ते है। परिवार के रीति–रिवाजों को अनुकरण के माध्यम से सिखाना ही सामाजिकरण है। जिसके लिए विवाह का बंधन जरूरी है।
5. **परिवार का निर्माण नातेदारी का विस्तारः** परिवार के निर्माण

एवं नातेदारी विस्तार करने के लिए भी विवाह करना आवश्यक होता है। विवाह के पश्चात् अधिक लोगों से कुछ न कुछ नाता जुड़ जाता है। जो परिवार के रूप में हमें प्राप्त होते है। यदि स्त्री–पुरूष विवाह न करे तो परिवार एवं नातेदारी में वृद्धि नहीं होगी और विभिन्न सामाजिक समूहों का निर्माण संभव नहीं होगा। इसलिए विवाह सार्वभौमिक एवं समाजो उपयोगी संस्था है।

6. **यौन इच्छाओं की पूर्तिः** यौन इच्छा एक मानवीय प्रवृत्ति है जिसके लिए विवाह एक ऐसी संस्था है जो समाज में इसकी आज्ञा प्रदान करती है। विवाह के द्वारा स्त्री–पुरूष को यह अनुमति रहती है। विवाह पूर्व यह अनुमति समाज किसी भी स्त्री–पुरूष को नहीं देता है। इसे समाज के विरूद्ध अनैतिक माना जाता है। विवाह ही इस मानवीय प्रवृत्ति की पूर्ति का साधन है।
7. **विवाह एक धार्मिक कार्यः** प्रत्येक समाज में विवाह को एक धार्मिक कार्य माना जाता है। धर्म की अनुमति से ही विवाह सम्पन्न कराया जाता है। धार्मिक मूल्यों का पालन करना भी विवाह के समय आवश्यक होता है। सभी धर्म अपने–अपने धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विवाह को महत्वपूर्ण साधन मानते है एक प्रकार से विवाह धर्म पालन की आवश्यकता है एवं धार्मिक अनुष्ठान भी है।
8. **संस्कृति का हस्तांतरणः** विवाह संस्कृति के हस्तांतरण के लिए भी आवश्यक है संस्कृति को एक पीढ़ी को दुसरी पीढ़ी तक पहुंचाने के लिए परिवार का विस्तार जरूरी है। यह विस्तार विवाह द्वारा ही संभव होता है। विवाह भी संस्कृति का एक हिस्सा है। जिसे विवाहित सदस्य अपने आने वाली पीढ़ी को देते है या सिखाते है।
9. **सामाजिक एवं मानसिक सुरक्षाः** विवाह व्यक्ति को सामाजिक एवं मानसिक सुरक्षा प्रदान करती है। विवाह उपरांत समाज में विभिन्न भूमिकाओं के द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सामाजिक सुरक्षा प्राप्त होता है तथा समाज का हिस्सा बनकर मानसिक संबल भी समाज द्वारा उसे प्रदान किया जाता है। विवाह

के बाद किसी भी प्रकार की कठिनाई में परिवार व्यक्ति के साथ खड़ा होता है। जिससे व्यक्ति अपने आपको अकेला अनुभव नहीं करता।

विवाह के उद्देश्य

विवाह एक सामाजिक संस्था है संस्था का विकास और अस्तित्व कतिपय सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति से संबंधित होता है। यह आवश्यक नही है कि उद्देश्य सदा समान ही रहे। देश और काल के अनुसार विवाह के उद्देश्यों में थोड़ा बहुत बदलाव होता रहता है। उद्देश्यों में साधारणतयः उतना अंतर नहीं होता है जितना कि उनके अधिमान्यता के क्रम में होता है। विवाह के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैः

1. यौन इच्छा की स्थायी पूर्ति करना।
2. संतान उत्पत्ति और उत्पन्न संतान का पालन पोषण करना।
3. अपने परिवार के वंश को आगे बढ़ाना।
4. परिवार के आर्थिक हितो की पूर्ति में भागीदारी करना।
5. धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को स्थापित करना ।
6. परिवारिक जीवन की स्थापना करना ।
7. समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए।
8. विवाह संबंधों का नियमन करना ।
9. दाम्पत्य जीवन की नींव रखना।
10. भावनात्मक एवं मानसिक शांति प्राप्ति करने के लिए।
11. समाज कल्याण में सहयोग हेतु।
12. समाज एवं परिवार के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए।

विवाह की आवश्यकताएं एवं महत्व तथा कार्य

मनुष्य की कुछ जैविक आवश्यकतायें होती है। जिसकी पूर्ति उनके जीवन में आवश्यक होती है। भूख, प्यास एवं श्वसन इसी प्रकार की आवश्यकताएं है इन्हीं की भांति यौन संबंध मानव की एक महत्वपूर्ण और

जैविक आवश्यता है और इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए विवाह नामक संस्था का प्रार्दुभाव हुआ। समाज के अस्तित्व के लिए समाज में शांति एवं व्यवस्था की भी आवश्यकता पड़ती जो किसी सीमा तक समाज में यौन और ऐसे अन्य संबंधों की निश्चित, नियमित व नियंत्रित करने के माध्यम से प्राप्त की जाती है। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुये विवाह की आवश्यकता एवं महत्व को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है।

1. **संतान उत्पत्ति तथा पालन–पोषण की व्यवस्था करनाः** विवाह संस्था का प्रमुख आवश्यकता एवं कार्य है संतान उत्पत्ति करना, उन्हें वैधता प्रदान करना। उनके पितृत्व का निर्धारण करना तथा पालन–पोषण की व्यवस्था करना अगर विवाह संस्था द्वारा संतान उत्पत्ति का कार्य पूरा नहीं होता तो सृष्टि की यह निरंतरता खत्म हो जायेगी। अतः समाज एवं समुदाय के निर्माण के लिए सदस्यो की आवश्यकता होती है और इन सदस्यो की पूर्ति विवाह उपरांत संतान उत्पत्ति से की जाती है।
2. **विवाह यौन संबंधों को व्यवस्थित करनाः** यौन संतुष्टि मानव की प्रमुख आवश्यकताओं में से एक है। व्यक्ति अगर स्वतंत्र तथा अनियमित रूप से इस इच्छा की संतुष्टि करने लगे तो इससे संघर्षों में वृद्धि होगी। साथ ही अनैतिकता बढ़ने से समाज का संगठन भी खत्म हो सकता है। विवाह इस स्थिति में व्यक्ति एवं समाज की रक्षा करता है। विवाह कई प्रतिबंधों एवं नियमों के अन्तर्गत व्यक्ति को इस आवश्यकता की संतुष्टि का अधिकार प्रदान करता है।
3. **संबंधों में स्थायित्वः** विवाह एक ऐसी संस्था है जो दो विषम लिंगियों के बीच संबंधों में स्थायित्व लाता है। इस संस्था की उत्पत्ति के पहले पत्नि नाम के या पति नाम के व्यक्तित्व का अभाव था। विवाह संस्था द्वारा ही दो इच्छित विषम लिंगियों को पति–पत्नि के रूप में संबोधित करके उनके परस्पर संबंधों को स्थायित्व प्रदान किया गया है। इस स्थायित्व के द्वारा ही चरित्रता का मूल्य समाज में आंका जाता है।

4. **सांस्कृतिक निरंतरताः** सांस्कृतिक दृष्टि से विवाह किसी समाज में परम्पराओं के संरक्षण तथा व्यक्तित्व के निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य करता है। विवाह द्वारा बनने वाले परिवार में बच्चा अपने समाज के आचार–व्यवहार, रीति–रिवाज, धार्मिक तथा नैतिक विश्वासों एवं आदर्शों से परिचित होता है। उनका अनुकरण करता है। उन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस परिवार का सदस्य बनकर रहता है। इस प्रकार से नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से अपने सांस्कृतिक दायित्व को ग्रहण करता है एवं सातत्य को बनाये रखता है।
5. **परिवार का निर्माण करनाः** सभी समाजों में विवाह का प्रथम कार्य एवं आवश्यकता परिवार का निर्माण करना है। व्यक्ति जब तक अपने परिवार का निर्माण नहीं करता उसका जीवन साधारणतः व्यक्तिवादी अकेला एवं कभी–कभी अनुत्तरदायी भी रहता है। विवाह संस्था व्यक्ति को मान्यता प्राप्त तरीके से परिवार का निर्माण करने का अवसर प्रदान करती है एवं इस तरह समाज में व्यक्ति की स्थिति को ऊँचा उठाती है। अतः परिवार के निर्माण में विवाह की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।
6. **आर्थिक सहयोग के लिए आवश्यकः** व्यक्ति की कई भौतिक आवश्यकताएं होती है, जिनकी पूर्ति नितांत जरूरी है, जैसे मानव में उदर पूर्ति एवं सुरक्षा की प्रवृत्ति होती है। विवाह के बाद स्त्री–पुरूष सहयोग के द्वारा अपने इन प्रवृत्तियों को शांत कर पाते है। इसी तरह आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी विवाह की आवश्यकता तथा कार्य है। अकेले व्यक्ति के लिए धन की आवश्यकता कम पड़ती है। किन्तु विवाह के बाद परिवार बढ़ने से परिवार चलाने के लिए अधिक धन की आवश्यकता होती है जिसे पति–पत्नि मिलकर आपसी सहयोग से पूरा करते है।
7. **विवाह समाज कल्याण में मद्दगारः** विवाह एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्था है यह संस्था समाज के मूलभूत उद्देश्यों को पूरा करती है। योग्य नागरिक के निर्माण में तथा आदर्श चरित्र के

निर्माण में विवाह की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। बच्चों का लालन–पालन इस प्रकार किया जाता है कि वो आगे जाकर समाज कल्याण का कार्य करें समाज के विकास में अपना पूर्ण योगदान दे इसलिए विवाह समाज कल्याण हेतु अति महत्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य है।

8. **सामाजिक परिस्थिति बनाने में आवश्यकः** विवाह समाज में व्यक्ति को सामाजिक परिस्थिति बनाने में मदद करता है। विवाह के बाद एक स्त्री एवं पुरूष को समाज द्वारा अनेको कार्य प्रदान किया जाता है। जो अलग–अलग परिस्थिति प्रदान करते है। विवाह के बाद प्रतिष्ठा बनाये रखने में भी स्पष्ट सहयोग करते है। विवाह पूर्व यदि स्त्री–पुरूष साथ रहे तो समाज द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया जाता किंतु विवाह के बाद स्त्री–पुरूष साथ रहे तो यह समाज के लिए प्रतिष्ठा की बात मानी जाती है।

9. **समाज हित एवं व्यक्ति हित में आवश्यकः** समाज हित व्यक्ति के हित में एवं व्यक्ति का हित समाज के हित में निहित होता है। दोनो ही हितों में समाजस्य विवाह के द्वारा ही संभव है। विवाह की आवश्यकता तब और भी बढ़ जाती है। जब समाज में समुदाय के हित को शामिल किया जाता है। क्योंकि कहीं न कहीं विवाह से ही समाज एवं व्यक्ति के हित से संबंधित संस्थाओं का जन्म हुआ है।

10. **पारिवारिक श्रम विभाजनः** विवाह की आवश्यकता और कार्य पारिवारिक श्रम विभाजन भी है। विवाह के बाद पति–पत्नि एवं बच्चों के कार्य विभाजित हो जाते है। श्रम विभाजन भी विभिन्न समाजों में अलग–अलग हो सकती है। परिवार के प्रकार एवं स्वरूप के आधार पर कार्यों का विभाजन किया जाता है। जैसे पितृसत्तात्मक परिवार में पिता मुखिया एवं मातृसत्तात्मक परिवार में परिवार की मुखिया माता होती है। उसी तरह से कार्य का विभाजन विवाह उपरांत किया जाता है। एकल एवं संयुक्त परिवार में भी

विवाह के बाद सदस्यों में श्रम का विभाजन सदस्यों की भूमिका एवं परिस्थिति के अनुसार किया जाता है।

इस तरह से उपरोक्त बातों पर नजर डाले तो विवाह की आवश्यकता एवं महत्व सभी समाजो में है। विवाह के ऊपर परिवार के कार्य भी निर्भर करते है। विवाह की आवश्यकता आदिकाल से भी है। जिसमें समय परिस्थिति के अनुसार बदलाव किया गया है। विवाह एक धार्मिक संस्कार है जो व्यक्ति को समूहों से जोड़कर रखता है। यही विवाह की मुख्य आवश्यकता है। सामान्यत प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों के निर्माण के लिए भी विवाह संस्था आवश्यक है। विवाह वह नींव है जिस पर परिवार रूपी इमारत खड़ी होती है। इसके अभाव में जो रिश्ते बनाये जाते है वे स्थायी नहीं होते और परिवार एवं समाज के लिए उपयोगी भी नहीं होते है। यही सभी बातें विवाह की महत्ता को बढ़ाने में मददगार होती हैं।

विवाह के प्रकार

विवाह एक धार्मिक संस्कार है, धर्मों को मानने वाले अपने धर्म ग्रन्थों के कहे अनुसार विवाह के नियमों को मानते है। परंतु समाज में कुछ विवाह ऐसे भी होते है जो समाज और धर्म के अनुरूप नहीं होते है। क्योंकि विवाह के साथ–साथ होने वाले रीति–रिवाजो और मान्यताओं की महत्ता और प्रासंगिकता समाज द्वारा भी निर्धारित किये जाते है। मनु स्मृति के अनुसार आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन है जो निम्नानुसार हैः

1. **ब्रह्म विवाहः** इसको उत्कृष्ठ कोटि का विवाह माना जाता है। इस प्रकार के विवाह में कन्या दान व धार्मिक संस्कार महत्वपूर्ण है इस विवाह में कन्या के पिता अपनी कन्या को योग्य सुशील और गुणवान तथा सचरित्र, शीलवान वर को बुलाकर या स्वयं आमांत्रित करके वस्त्र आभूषण आदि अर्पित करके वेदोक्त विधि से वस्त्र आभूषण आदि से अंलकृत करके प्रसन्नतापूर्वक कन्या को दान के रूप में देता है। इस विवाह में माता–पिता की स्वीकृति तथा संस्कारात्मक विधि महत्वपूर्ण होते है। आधुनिक युग में भी इस प्रकार के विवाह प्रचलित है।

2. **दैव विवाहः** इस प्रकार के विवाह में वेद मन्त्रों का उच्चारण करने वाले विद्वान, यज्ञकर्त्ता (पुरोहित) जो दैव कार्य करता है को अपनी कन्या वस्त्र आभूषणों से सुसज्जित करके पिता अपनी कन्या का दान कर देता है। प्राचीनकाल में बड़े–बड़े यज्ञ अनुष्ठान होते थे। जिसमें विभिन्न गुरूकुलो से शिष्य भाग लेने आते थे तथा अपने गुरूओं के साथ यज्ञ करते थें। उनमें से किसी सुयोग्य शिष्य को चुनकर पिता अपनी कन्या को समर्पित कर देता था। इसे ही दैव विवाह कहा जाता है। वर्तमान में यज्ञों के समाप्त होने के बाद दैव विवाह लगभग समाप्त सा हो गया है।
3. **आर्ष विवाहः** विवाह के इस प्रकार में वर (लड़का) इच्छुक लड़की से विवाह करने के लिए एक जोड़ी बैल एवं गाय देता है। अर्थात कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष से एक गाय दो बैल तथा कुछ अन्य समान लेकर धर्मपूर्वक कन्यादान किया जाता है। उसे आर्ष विवाह कहते है यह विवाह ब्रह्म विवाह एवं दैव विवाह से बिलकुल विपरित है। इसमें वर पक्ष द्वारा वस्त्र आभूषण कन्या पक्ष को दिया जाता है। ऊपर के दोनों विवाह के प्रकारों में कन्या पक्ष द्वारा दिया जाता है। आज कल गाय बैल के स्थान पर धन आदि अन्य वस्तु देने का प्रचलन हो गया है।
4. **प्रजापत्य विवाहः** जब कन्या के पिता योग्य वर को यह कहकर कि ''तुम दोनो आजीवन साथ रहकर धार्मिक आचरण करो'' कन्यादान करता है तो यह विवाह प्रजापत्य विवाह कहलाता है। इस प्रकार के विवाह में परिजनों की देख–रेख में वर–वधु एक दूसरे का चुनाव करते है और परिजनों के द्वारा दोनों को गृहस्थ आश्रम का पालन करने का आदेश दिया जाता है। तथा वर–वधु का यथावत् विधि से भेंट और उपहार देकर विवाह कर दिया जाता है।
5. **असुर विवाहः** वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को यथा शक्ति धन देकर विवाह किया जाता है। कन्या जितनी सुन्दर या सर्वगुण सम्पन्न

होगी धन उतना ही अधिक देना पड़ता है। वैदिक काल एवं प्राचीनकाल में इस प्रकार के विवाह को प्रधानता दी जाती थी। एक प्रकार से धन देकर पत्नियां खरीदी जाती थी। आजकल कहीं–कहीं कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष से विवाह के लिए धन की मांग की जाती है। इसे आधुनिक असुर विवाह कहा जा सकता है।

6. **गंधर्व विवाहः** परिवार वालों के सहमति के बिना जब वर और कन्या अपनी इच्छा से बिना किसी रीति–रिवाज के आपस में विवाह कर लेते है तो गंधर्व विवाह कहलाता है। यह एक प्रकार से प्रेम–विवाह ही है कई बार इस प्रकार के विवाह को सामाजिक मान्यता देने के लिए वैवाहिक संस्कार भी बाद में कर दिये जाते है। कुछ समाज इस विवाह को गलत मानते है मगर कुछ समाज इस प्रकार के विवाह को गलत नहीं मानते। आजकल के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो अधिकांश समाजों में ज्यादतर युवक–युवतियों का प्रेम विवाह, गंर्धव विवाह की श्रेणी में आता है। समय और परिस्थिति के अनुसार कुछ बातें ही परिवर्तित होती है।

7. **राक्षस विवाहः** कन्या पक्ष अर्थात उसके परिजनों मित्रों आदि को डरा धमका कर क्षतिग्रस्त करके अथवा उनकी हत्या करके कन्या के इच्छा के बिना उसे प्रताड़ित करके उसका अपहरण करके जो विवाह किया जाता है उसे राक्षस विवाह कहते है। यह विवाह प्रथा उस समय से चली आ रही है। जब स्त्रियाँ युद्ध का पारितोषिक मानी जाती थी। इस प्रकार के विवाह में बल एवं युद्ध को महत्वपूर्ण माना गया है। सभी कालो में इस प्रकार के विवाह देखने को मिलते है। नैतिक दृष्टिकोण से इस विवाह को मान्यता नहीं मिली है। क्योंकि इसमें कन्या की मर्जी न होने पर भी विवाह किया जाता है। इस प्रकार के विवाह को निष्कृष्ट श्रेणी में रखा गया है।

8. **पिशाच विवाहः** यह विवाह सभी प्रकार के विवाहों में निम्नतम कोटि का विवाह है इस प्रकार के विवाह में किसी व्यक्ति द्वारा सोई हुई लड़की या मद्यपान की हुई उन्नमत कन्या से बलपूर्वक संबंध

बनाने के पश्चात् उससे विवाह कर लिया जाता है। सभी समाजो में इस प्रकार के विवाह को गलत एवं अनैतिक माना जाता है। परंतु विवाह का यह प्रकार सभी कालो में देखने को मिलती है। आजकल आधुनिक समय में भी इस प्रकार का विवाह लोक लज्जा के नाम पर किया जाता है।

विवाह के उपरोक्त आठ प्रकारों में पहले चार को धार्मिक एवं अंतिम चार को अधार्मिक माना जाता है। ब्रह्म विवाह का प्रचलन समाज में सर्वाधिक है। आखिरी के ये विवाह पूर्णतः अमान्य एवं अनैतिक माना गया है। भारत के विभिन्न जातियों एवं जनजातियों में विवाह के सभी प्रकार विद्यमान है। समय के साथ एवं सामाजिक परिर्वतनों को देखते हुये विवाह के प्रकारों में भी बदलाव आता रहा है। वर्तमान में विवाह के ऊपर के छः विवाह श्रेष्ठ उत्तम और मध्यम एवं ठीक माना गया है। किन्तु आखिरी के दो प्रकार के विवाह निम्न एवं अनैतिक माना गया है।

विवाह के स्वरूप

भारत में विवाह के बहुत से स्वरूप पाये जाते है, प्रत्येक समाज एवं समुदाय का विवाह के अनेकों तरीके अपनाये जाते है। कुछ स्वरूप वर्तमान में भी मौजूद है तो कुछ विलुप्त हो गये है। विवाह के स्वरूपों में से कुछ स्वरूपों को निम्नानुसार उल्लेख किया गया हैः

1. **एक विवाहः** इस विवाह से तात्पर्य है कि एक पुरूष का विवाह एक ही स्त्री से हो सकता है इनमें से कोई भी दूसरा विवाह तब तक नहीं कर सकता जब तक की वह दूसरे को तलाक न दे अथवा दोनों में से एक की मृत्यु न हो जाये एक विवाह में जोड़ा विवाह को सर्वोत्तम माना गया है। जिसमें एक पुरूष तथा एक स्त्री विवाह करते है और दोनों की स्थिति समान रहती है। यह विवाह स्थायी होता है जिसे साधारण सी बातों पर समाप्त नहीं किया जा सकता। एक विवाह का ही एक स्वरूप है क्रमिक एकल विवाह, जिसमें यदि पति या पत्नि की मृत्यु हो जाये तो भी दूसरा विवाह किसी एक साथ ही होता है। पश्चिमी समाजों मे क्रमिक एकल विवाह की प्रथा

अधिक प्रचलित है, जिसमें जीवन साथी से तलाक या मृत्यु के पश्चात् पुनः किसी एक से ही विवाह होता है।

2. **बहु विवाहः** बहु विवाह एक ऐसा विवाह है जिसमें एक स्त्री या एक पुरूष एक साथ एक से अधिक स्त्रियों या पुरूषों के साथ विवाह करते है। बहु विवाह के अन्तर्गत ही बहु पत्नि विवाह होता है जिसमें एक पुरूष एक ही समय में दो से ज्यादा स्त्रियों से विवाह करता है। दूसरे शब्दों में एक से ज्यादा पत्नियाँ रखने की प्रक्रिया ही बहु पत्नि विवाह है विवाह का यह स्वरूप आदिम समाजों तथा सभ्य समाजों में भी काफी प्रचलित है। बहु विवाह में ही बहु पति विवाह भी प्रचलित है। जिसमें एक स्त्री एक समय में कई पुरूषों से विवाह करती है। यह प्रायः उन आदिम जातियों तथा समाजों में पाया जाता है। जहां पर स्त्रियों की संख्या पुरूषों से कम होती है एवं प्राकृतिक साधनों का अभाव तथा गरीबी होती है। ''खासा'' जनजाति में एक स्त्री के कई पति होने का प्रचलन है जिसमें स्त्री के सभी पति आपस में भाई भी हो सकते है या कोई दूसरे समूहों से जो एक दूसरे से अपरिचित भी हो सकते है।

3. **समूह विवाहः** विवाह के इस स्वरूप में पुरूषों का एक समूह महिलाओं के एक समूह से विवाह करता है। प्रायः एक समूह के भाई दूसरे समूह के सभी बहनो से विवाह करते है जिनमें सभी स्त्रियां सभी पुरूषों की सामूहिक रूप से पत्नि होती है। यह प्रथा बहुत ही कम प्रचलित है। यह प्रथा आस्ट्रेलिया की डेयरी जनजाति में पाई जाती है। यहां एक कुल की सभी लड़कियाँ दूसरे कुल की पत्नियाँ समझी जाती है।

4. **अंतर विवाहः** विवाह के इस स्वरूप में एक व्यक्ति को अपने समूह के भीतर ही विवाह करने की अनुमति रहती है। व्यक्ति अपनी जाति में ही विवाह कर सकता है। यह जातिगत नियम के अन्तर्गत आता है। विवाह का यह स्वरूप भारत में हिन्दुओं में पाई जाती है। जाति व्यवस्था के अंतर्गत एक जाति के सदस्यों से यह आशा की जाती

है कि वे अपनी जाति के अंदर ही विवाह करें। इसमें प्रजाति एवं उपजाति को भी ध्यान में रखा जाता है।

5. **बहिर्विवाहः** बहिर्विवाह वह व्यवस्था है जिसके अनुरूप एक व्यक्ति का विवाह व्यक्ति जिस समाज या समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह किया जाता है। अर्थात व्यक्ति को अपनी निश्चित समूह या वर्ग से बाहर विवाह करना पड़ता है। जैसे हिन्दुओं में अपनी जाति में विवाह करना पड़ता है किन्तु अपने गोत्र अपने प्रवर्ग एवं अपने सपिंड से बाहर विवाह कर सकते है। जनजातियों में एक ही टोटम (भगवान) को मानने वाले लोगो में परस्पर विवाह करने में मनाही होती है।

6. **अंतर्जातिय विवाहः** जब एक व्यक्ति अपनी ही जाति में से अपने जीवन साथी का चुनाव करता है तो उसे अंतर्जातिय विवाह कहते है। लेकिन इसके विपरीत अगर कोई व्यक्ति अपने जाति से बाहर या अन्य जातियों में से अपने जीवन साथी का चुनाव करता है तो वह अंतर्जातिय विवाह के स्वरूप के अंतर्गत आता है। इस विवाह के भी दो स्वरूप है।

1. **अनुलोम विवाहः** इस तरह के विवाह में लड़का अपने वर्ण या जाति या अपने से निम्न वर्ण या जाति की लड़की से विवाह करता है। इस विवाह में साधारणतः स्त्री की तुलना में पुरूष की जाति या वर्ण उच्च होते है। हिन्दुओं में अनुलोम विवाह की अनुमति है और इसे सकारात्मक प्रतिबंध कहा जाता है।

2. **प्रतिलोम विवाहः** यह अनुलोम विवाह का विपरीत स्वरूप है इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण या जाति की होती है अर्थात पत्नि उच्च वर्ग एवं पति निम्न वर्ग का होता है। ऐसे विवाहों के बाद स्त्री की स्थिति निम्न हो जाती है। धर्म शास्त्रों में इस प्रकार के विवाह की आलोचना की गई। किन्तु विवाह अधिनियम 1955 में अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनो ही विवाह को वैध माना गया है।

विवाह के अन्य स्वरूप

विभिन्न जनजातियों में विवाह के और भी स्वरूप पाये जाते है जो वर्तमान में कुछ जनजातियों में अभी भी चलन में है और कुछ जनजातियों में यह चलन से समाप्त हो गया है। जैसेः

साली विवाह	– पत्नि की बहन से विवाह।
देवर विवाह	– पति के भाई से विवाह।
परिविक्षा विवाह	– लड़का लड़की के स्वभाव मिलने पर विवाह।
हरण विवाह	– कन्या का हरण करके विवाह।
परीक्षा विवाह	– पुरूष के साहस एवं शौर्य की परीक्षा लेकर।
क्रय विवाह	– वधु मूल्य चुकाकर विवाह।
सेवा विवाह	– लड़के द्वारा सास–सुसर की सेवा करके।
विनिमय विवाह	– दो परिवारों का आपस में कन्याओं का लेन–देन।
हठ विवाह	– कन्या का हठपूर्वक लड़के के घर जाकर रहना।
सह पलायन विवाह	– युवक–युवती की सहमति से विवाह।
झगड़ा विवाह	– झगड़ा के पश्चात् विवाह (विवाह के लिए झगड़ा)।
पाटो विवाह	– तलाक के बाद वधु के पूर्व पति को आधा मूल्य देकर।

इस प्रकार से हम पाते है कि विवाह सभी समाजों में अलग–अलग उद्देश्यों को लेकर पूर्ण किया जाने वाला एक सामाजिक संस्था है। जो स्त्री एवं एक पुरूष को उनके अनुरूप परिस्थिति देकर भूमिकाओं का निर्वहन करना सीखाता है। विवाह के विभिन्न विशेषताओं, उद्देश्यों, आवश्यकता, महत्व एवं कार्यों को समझने के बाद हम विवाह की अवधारणा को पूर्णतः स्पष्ट कर चुके है। विवाह सामाजिक दायरो में रहकर एवं सामाजिक नियंत्रण के द्वारा किया जाने वाला एक समाजो उपयोगी संस्कार है। जो दुनिया को एक परिवार के रूप में जोड़ती है। परम्पराओं को निभाना सिखाती है और परिवार को पूर्ण कर पीढ़ी को आगे बढ़ाती है। सभी सभ्य समाजों के लिए विवाह आवश्यक है। विवाह समाज के विभिन्न प्रथाओं से

जुड़ी हुई संस्था है। जो स्त्री पुरूषो के संबंधों को नैतिकता का नाम देकर समाज में आदर्श प्रस्तुत करती है।

––==00==––

परिवार

भूमिका

परिवार मानव समाज की पूर्णतः एवं सार्वभौमिक इकाई है। प्रारंभ में परिवार का निर्माण प्राणी शास्त्रीय आवश्यकताओं के कारण हुआ जो आगे चलकर मानव की अनेक सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बन गया। परिवार के कारण ही आज मानव जाति अमर बनी हुई है। मानव के उद्विकास के साथ–साथ परिवार के अनेक रूप प्रकट हुये हैं। व्यक्ति जन्म से ही परिवार का सदस्य बन जाता है और जीवन पर्यंत इसका सदस्य बना रहता है। परिवार एक ऐसी सामाजिक संस्था है। जो आपसी सहयोग एवं समन्वय से क्रियान्वित होती है और परिवार के समस्त सदस्य आपस में मिलकर अपना जीवन प्रेम स्नेह एवं भाईचारे के साथ मिलकर निर्वाह करते हैं। संस्कार, मार्यादा, सम्मान, समर्पण, आदर, अनुशासन आदि किसी भी सम्पन्न परिवार के गुण होते है।

परिवार एक ऐसा गृहस्थ समूह है जिसमें माता–पिता, दादा–दादी, चाचा–चाची, भाई–भाभी, चचेर भाई बहन, अविवाहित भाई–बहन सम्मिलित होते हैं। परिवार के सदस्यों का एक सामान्य निवास स्थान होता है। परिवार एक सर्वाभौमिक इकाई है इसलिए सभी स्थानों पर एवं सभी कालों में विद्यामान रही है। परिवार का स्वरूप एवं प्रकारों में कुछ अंतर स्थानीय पर्यावरण के आधार पर पाया जाता है। सत्ता के आधार पर ही परिवार के कार्यप्राणाली में भेद पाया जाता है। ग्रामीण एवं नगरीय परिवारों में भी भेद पाया जाता है। फिर भी परिवार समाज की महत्वपूर्ण मौलिक इकाई है। मानव जीवन में परिवार की स्थिति केन्द्रीय होती है। परिवार मुनष्य की जैविक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति पूरे उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्यनिष्ठा से करता है। सामाजिक जीवन में परिवार की एक विशेष भूमिका होती है इसी कारण परिवार को प्राथमिक समूह माना गया है।

किसी भी सशक्त देश के निर्माण में परिवार एक आधारभूत संस्था

की भांति होता है, जो अपने विकास कार्यक्रमों से दिनो दिन प्रगति के नये सोपान तय करता है। वैसे तो परिवार एक छोटी इकाई है लेकिन इसकी जड़े बहुत ही गहराई से मानव समाज से जुड़ी होती है। परिवार से बाहर मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है। जब तक व्यक्ति किसी परिवार से जुड़ा है, तब तक उसकी पहचान मजबूत रहती है उसे परिवार से ही पहचाना जाता है। विद्वानों का मानना है कि परिवार से राष्ट्र तथा राष्ट्र से ही विश्व का निर्माण होता है। इसलिए कहा भी जाता है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्म' अर्थात पूरी पृथ्वी अपना परिवार है यह भावना हमें सम्पर्ण मानव से जोड़े रखती है।

परिवार का अर्थ

परिवार एक सर्वभौमिक संस्था है। जिसमें विवाहित पुरूष विवाहित महिला और उनके बच्चें शामिल होते हैं। परिवार का अर्थ कुछ संबंधित लोगो का एक घर में निवास करना भी है। परिवार सामाजिक संगठन एवं सामाजिक कार्यों का आधार है। यह लिंग समूहों पर आधारित छोटा और स्थायी समूह है जो बच्चों की उत्पत्ति तथा पालन पोषण करता है। परिवार का अर्थ रक्त संबंधितों का एक छत के नीचे आवास करना भी है। परिवार मानव समुदाय की मूल इकाई है और यही इकाई विभिन्न संस्थाओं को जन्म देती है।

परिवार की परिभाषाएँ

विभिन्न समाजशास्त्रीयों के द्वारा परिवार को परिभाषित किया गया है, जिनमें से कुछ परिभाषाएं निम्न हैः

गिलबर्ड के अनुसार, ''साधारणतः परिवार में एक स्त्रीय या पुरूष का एक या एक से अधिक बच्चों के साथ स्थायी संबंध होता है।''

मरडॉक के शब्दों में, ''परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है।''

बर्गेस तथा लॉक के शब्दों में, ''परिवार एक ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह रक्त अथवा गोद लेने के संबंधों द्वारा एक दूसरें से बंधे रहते है और एक गृहस्थी का निर्माण करते है।''

इलियट एवं **मेरिल** के अनुसार, ''परिवार को पति–पत्नि तथा उनके बच्चों की एक जैविकी सामाजिक इकाई के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''

क्सेयर के अनुसार, ''परिवार को हम संबंधों की वह व्यवस्था समझते है जो माता–पिता और उनके संतानों के मध्य पाई जाती है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि परिवार एक सामाजिक इकाई के रूप में एक सार्वभौमिक संस्था है जिससे सदस्यों के बीच स्थायी संबंध होते है, तथा एक निश्चित आवास में निवास करते है, एवं गृहस्थी का निर्माण करते है, जिसमें माता–पिता एवं उनके बच्चे शामिल होते है।

परिवार के प्रकार

विश्व भर में परिवार के भिन्न–भिन्न प्रकार पाये जाते है। इनका स्वरूप समय तथा परिस्थितियों के अनुसार मानव की सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के क्रम में बदलता रहता है। विश्व के सभी समाजों में इसका स्वरूप एक समान देखने को नहीं मिलता है। समाज विशेष के सांस्कृतिक आदर्शों तथा मूल्यों के अनुसार परिवार को एक विशेष स्वरूप मिला होता है। मानव समाज में पाये जाने वाले परिवार के सभी प्रकारों भेदों एवं स्वरूपों का वर्गीकरण भिन्न आधारो पर किया गया है।

1. विवाह के आधार पर परिवार के प्रकार

विवाह के आधार पर परिवार के दो प्रकार हैः

1. **एक विवाही परिवारः** इस प्रकार के परिवार में एक पुरूष एक स्त्री से अथवा एक स्त्री एक पुरूष से विवाह करती है। जिसमें उससे उत्पन्न बच्चें ही शामिल होते है। यह परिवार काफी छोटा परिवार होता है। क्योंकि पति–पत्नि और बच्चें ही परिवार के सदस्य होते है। पति–पत्नि को दूसरा जीवन साथी चुनने की या दूसरा विवाह करने की अनुमति तब तक नहीं मिलती जब तक पहला जीवन साथी से विवाह विच्छेद से अलग न हुआ हो या पहले जीवन साथी की मृत्यु न हुई हो। आज के सभ्य समाज में इस प्रकार के परिवारों

को सर्वोत्तम परिवार माना जाता है और इसका प्रचलन बढ़ता जा रहा है।

2. बहु विवाही परिवार

इसी प्रकार के विवाह में कोई भी पुरूष या महिला एक से अधिक विवाह करती है इस प्रकार के विवाह को भी दो भागों में बांटा गया है

अ. **बहुपत्नि विवाही परिवारः** जब एक पुरूष एक से अधिक महिलाओं से विवाह करता है। ऐसे परिवार की स्थापना में पुरूष एक तथा महिलायें एक से अधिक होती है। प्रायः मुसलमानों में ऐसा परिवार पाया जाता है। हिन्दू कानून में ऐसा प्रावधान नहीं है। कुछ भारतीय जन–जनजातियों में इस प्रकार के विवाह पाये जाते है। किन्तु सभ्यता के साथ इस प्रकार के विवाह से बने परिवार अब बंद होते जा रहे है।

ब. **बहुपति विवाही परिवारः** ऐसे परिवार की स्थापना एक स्त्री अनेक पुरूषों से विवाह करके करती है। वर्तमान में ऐसे परिवार उत्तरांचल क्षेत्र की खस और नीलगिरी की टोंडा जनजाति में पाये जाते है। शिक्षा के प्राचार प्रसार के साथ ही साथ इस प्रकार के विवाह से बने परिवार भी अब घटते जा रहे है।

2. सत्ता के आधार पर परिवार के प्रकार

सत्ता के आधार पर भी परिवार को दो भागों में विभाजित किया गया है:

1. **पितृ सत्तात्मक परिवारः** ऐसे परिवार जहां माता पिता की प्रधानता रहती है। घर और बाहर के समस्त कार्य पिता के द्वारा या उनकी आज्ञा से ही किये जाते है। परिवार के सभी सदस्य पिता के आज्ञानुसार ही कार्य करते है। अधिकांश हिन्दू परिवारों में इस प्रकार के परिवार देखने को मिलते है।
2. **मातृ सत्तात्मक परिवारः** इस प्रकार के परिवार में परिवार की मुखिया कोई स्त्री होती है अथवा माता की सत्ता परिवार में कायम

रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसे परिवारों में स्त्री अथवा माता की प्रधानता रहती है। अहम फैसले माता के द्वारा ही लिये जाते है। परिवार के समस्त कार्य माता की आज्ञानुसार संचालित होते है। भारत के असम की कुछ जनजातियों में इस प्रकार के परिवारों का प्रचलन है। खासी गारो तथा मालाबार के नापरों में मातृ सत्तात्मक परिवार पाये जाते है।

3. वंश के आधार पर परिवार के प्रकार

वंश के आधार पर परिवार को दो प्रकारों में विभाजित किया गया है जो निम्न हैः

1. **पितृवंशीय परिवारः** पितृवंशीय परिवार में वंश परम्परा पिता से चलती है। पिता के नाम खानदान और गोत्र को ही पत्नि को भी अपनाना होता है। वंश परम्परा पुत्र के नाम से जानी पहचानी जाती है। पुत्र ही परिवार को आगे बढ़ता है। भारत में समान्यतः पितृवंशीय परिवार ही चलन में है।
2. **मातृवंशीय परिवारः** मातृवंशाीय परिवार में वंश परम्परा माता के नाम से चलती है ऐसे परिवार मे माता के वंश का ही महत्व होता है। पुरूष को पत्नि के वंश या गोत्र को अपनाना होता है। माता के बाद उसकी पुत्री को वंश आगे बढ़ाने का अधिकार होता है। मालाबार के नायर लोगों में इस प्रकार के परिवार मिलते है।

4. निवास स्थान के आधार पर परिवार के प्रकार

निवास स्थान के आधार पर भी परिवार को निम्नलिखित दो भागों में बांटा गया हैः

1. **पितृस्थानीय परिवारः** ऐसे परिवार में विवाह के बाद पत्नि को पति के घर में जाकेर रहना होता है। भारत में ऐसे ही प्रकार के परिवार चलन में है। यह भारत के अधिकांश समाज में पाया जाता है। आधुनिक गतिशील समाजों में भी यही नियम देखने को मिलता है।
2. **मातृस्थानीय परिवारः** इस प्रकार के परिवार में पति को विवाह के

पश्चात् पत्नि के निवास स्थान पर जाकर रहना पड़ता है। जहां पत्नि के सभी रिश्तेदार निवास करती है। भारत के खासी गारो जनजातियों में ऐसे परिवार पाये जाते है।

5. संबंध के आधार पर परिवार के प्रकार

संबंध के आधार पर भी परिवार को दो भागों में बांटा गया हैः

1. **समान रक्त परिवारः** जब एक ही रक्त के व्यक्ति आपस में विवाह करते है। तब जो परिवार बनता है उसे हम समान रक्त परिवार कहते है। वर्तमान में अनुवांशिक विकार उत्पन्न होने के कारण इस प्रकार के परिवार लगभग खत्म हो रहे है।
2. **सहयोगी परिवारः** जब भिन्न रक्त के व्यक्ति पति–पत्नि बनते है। वे सहयोगी परिवार कहलाते है। इस प्रकार के परिवार सुप्रजनन शास्त्र की दृष्टि से अच्छे समझे जाते है।

6. सदस्यों की संख्या के आधार पर परिवार के प्रकार

सदस्यों की संख्या के अधार पर परिवार को दो भागों में बांटा गया हैः

1. **संयुक्त परिवारः** संयुक्त परिवार जिसे विस्तृत परिवार भी कहा जाता है। यह एक गृहस्थ समूह है। जिसमें माता–पिता, दादा–दादी, चाचा–चाची, भाई–भामी, चचरे भाई–बहन तथा अवविवाहित भाई–बहन सम्मिलित होते है। हिन्दू संयुक्त परिवार में एक साथ एक ही घर में कई पीढियों के लोग निवास करते है। जिनकी रसोई पूजा–पाठ एवं संपत्ति सामूहिक होती है। परम्परागत् रूप से संयुक्त परिवार ही हमारे समाज में पाये जाते है। क्योंकि हमारा भारतीय समाज कृषि प्रधान समाज में गिने जाते है। जहां परिवार के सभी सदस्य मिलजुल कर कार्य करते है। कृषि के लिए अधिक सदस्यों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए संयुक्त परिवार का स्वरूप सामने आया है। संयुक्त परिवार भारतीय परिवार की विशेषता है। संयुक्त परिवार की पूरी सत्ता मुखिया में केन्द्रित होती है। जिससे संयुक्त परिवार का कर्त्ता कहा जाता है, जो परिवार के सभी सदस्यों का

देखभाल समान रूप से करता है। संयुक्त परिवार में रक्तसंबंध एवं विवाह के आधार पर सदस्यता प्राप्त होती है। संयुक्त परिवार में प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित स्थिति होती है। तथा इसी स्थिति के आधार पर अन्य सदस्यों के साथ संबंध पाये जाते है। विभिन्न समाज शास्त्रीयों द्वारा संयुक्त परिवार की परिभाषाएं भी वर्णित है जैसेः

इरावती कर्वे के अनुसार, ''एक संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो एक ही छत की नीचे रहते है, जो एक रसोई में पका भोजन करते है, जो समान्य सम्पत्ति के अधिकारी होते है। जो समान्य पूजा में भाग लेते तथा जो परस्पर एक दूसरे से विशिष्ट नातेदारी से संबंधित हैं।''

देसाई के शब्दों में, हम उस परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकाकी परिवार की अपेक्षा अधिक पीढ़ियों (तीन या उससे अधिक) के सदस्य सम्मिलित होते है और एक दूसरे से सम्पत्ति, आय और परस्पर अधिकारों तथा कर्त्तव्यों द्वारा बंधे होते है।

संयुक्त परिवार की विशेषताएं

संयुक्त परिवार ग्रामीण समाज की बहुत बड़ी उपलब्धि है। यह परिवार शहरों में बहुत ही कम देखने को मिलती है। वर्तमान में यह परिवार कुछ कम होते जा रहें है। इस परिवार की प्रमुख विशेषताओं में कुछ विशेषताएं निम्नानुसार हैः

1. **बड़ा आकारः** संयुक्त परिवार का आकार बड़ा होता है क्योंकि इसमें लगभग तीन पीढ़ियों के लोग निवास करते है, कई विवाहित भाई तथा उनके बच्चें तथा माता–पिता साथ रहते हैं। सदस्यों की संख्या 40 से 50 तक होना सामान्य बात होती है। कुछ संयुक्त परिवारों में सदस्यों की संख्या 50 से अधिक भी होती है।
2. **सामान्य निवास स्थानः** संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों का एक ही निवास स्थान रहता हैं। यदि कोई सदस्य व्यवसाय के संबंध में बाहर जाता है तो भी विशेष अवसरों पर वह अपने निवास स्थान आ

जाता है।

3. **सामान्य रसोईः** संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही रसोई का पका भोजन ग्रहण करते है। परिवार के सदस्य चाहे कितने भी हो भोजन एक ही रसोई में बनता है। सभी सदस्यों के लिए एक सामान्य भोजन पकाया जाता है और सभी सदस्य एक साथ भोजन करते हैं।
4. **परम्पराओं का महत्वः** परंम्पराएं लोगों को एक साथ जोड़ती है। संयुक्त परिवार में सभी सदस्य परिवार के परम्पराओं का निर्वहन करते हैं। ये परम्पराएं ही परिवार के सदस्यों को मनोरंजन प्रदान कर एक सूत्र में जोड़कर रखती है। संयुक्त परिवार में परम्पराओं का विशेष महत्व होता है।
5. **समान्य पूजाः** संयुक्त परिवार के सदस्य सामान्यतः एक ही देवी या देवता की पूजा करते है। परिवार के ईष्ट देव एक ही होते है। दैनिक धार्मिक क्रिया, त्यौहार, उत्सव एवं पितरों की पूजा मिलकर करते है। सभी सदस्य धार्मिक कार्यों को एक साथ करते है।
6. **आर्थिक सहयोगः** संयुक्त परिवार की प्रकृति स्थायी होती है। आय के साधन में सभी का सहयोग रहता है। खर्च भी सदस्यों पर समान रूप से किया जाता है। यदि परिवार के किसी सदस्य की आय कम हो तब भी संयुक्त परिवार में समान देखभाल एवं आवश्यकता की पूर्ति बराबर होती है। बीमारी, बेरोजगारी या दुर्घटना के समय किसी सदस्य की देखभाल करना तथा आर्थिक मदद करना परिवार के सभी सदस्यों की जिम्मेदारी होती है।
7. **कर्ता की प्रधानताः** संयुक्त परिवार में परिवार के सभी सदस्यों का मुखिया एक ही होता है, जिसे परिवार का कर्ता कहा जाता है। कर्ता उस परिवार की आय की व्यवस्था करता है। साथ ही घर के आवश्यक कार्य कर्ता की अनुमति के अनुसार और उसी कर्ता के आदेश के अनुसार होता है। कर्ता परिवार के सभी सदस्यों की समान रूप से देखभाल करता है। ज्यादातर भारतीय समाज में घर

का बुजुर्ग पिता या दादा होते है वही परिवार का कर्ता होता है।

8. **पारस्परिक अधिकार एवं कर्त्तव्यः** संयुक्त परिवार के सभी सदस्य परस्पर अधिकारों एवं दायित्वों से बंधे होते है बड़े अपने से छोटो पर अपने अधिकार का प्रयोग कर सही गलत बताते है। उसी प्रकार छोटे सदस्य अपने से बड़ों का आदर एवं सम्मान करते है। परिवार में एक दूसरों के प्रति अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की भावना पाई जाती है बिना इस पारस्परिक सहयोग से संयुक्त परिवार नहीं चल सकता।

9. **श्रम विभाजन का उदाहरणः** संयुक्त परिवार श्रम विभाजन का भी एक अच्छा उदाहरण है। घर की महिलायें गृह कार्य और कृषि से संबंधित कुछ छोटा–मोटा कार्य करती है। जो घर के पुरूष बाह्य कार्य और ऐसे कार्य करते है जिसमें अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। परिवार के छोटे सदस्यों द्वारा कुछ छोटे कार्यों में योगदान रहता है। सभी सदस्यों के बीच काम का बटवारा हो जाता है जो परिवार को चलाने के लिए एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए आवश्यक है।

10. **सदस्यों पर अनुशासन एवं नियत्रंणः** संयुक्त परिवार अपने सदस्यों पर अनुशासन एवं नियत्रंण बनाये रखता है यदि किसी सदस्य के द्वारा अनुशासन भंग किया जाता है तो उसे अनुशासन में लाने के लिए या बनाये रखने के लिए प्रयास घर के बड़े सदस्यों द्वारा किया जाता है तथा सदस्यों द्वारा गलत कार्य करने पर नियत्रंण भी रखा जाता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार सदस्यों के बीच अनुशासन बनाये रखने का कार्य भी करती है। इससे परिवार के सभी सदस्यों के बीच मतभेद न हो इस प्रकार से संयुक्त परिवार की विशेषताएं ही परिवार को अक्षुण बनाये रखती है। संयुक्त परिवार भारतीय परिवारों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। जहां परिवार के सभी सदस्य दुख–सुख में आपस में मिलकर रहते है तथा एक दूसरे का साथ देते है।

संयुक्त परिवार के दोष

संयुक्त परिवार की जहां विशेषताएं बहुत है वहीं कुछ दोष भी है, जो कहीं न कहीं संयुक्त परिवार के विघटन के कारण बनते है। संयुक्त परिवार के दोषों को निम्न बिन्दुओं द्वारा उल्लेखित किया गया है।

1. **व्यक्ति के विकास में बाधकः** संयुक्त परिवार में कर्ता को प्रधानता मिलने के कारण अन्य सदस्य अपनी इच्छा एवं अपने विचारो के अनुरूप कोई भी स्वतंत्र कार्य नहीं कर सकते है। परिवार के सभी सदस्यों के साथ समानता बरती जाती है। योग्य तथा अयोग्य सभी को समान माना जाता है। जो व्यक्ति के विकास में बाधा उत्पन्न करता है। ऐसे परिवार में होनहार बालकों को अपने व्यक्तित्व विकास के समान अवसर प्राप्त नहीं होते है। शिक्षा, विवाह, व्यवसाय सभी विषयों पर कर्ता की राय आवश्यक हो जाती है। इन कारणों से व्यक्ति का कार्य बाधित हो जाता है।
2. **कर्ता की स्वेच्छाचारिताः** संयुक्त परिवार में कर्ता की प्रवृति में अधिनायकवाद स्पष्ट रूप से नजर आता है। कर्ता आयु में अधिक होने के कारण रूढ़िवादी विचारों का भी समर्थक होता है। घर का अन्य सदस्य कोई बात या विचार सामने रखे तो कर्ता के लिए वह असभ्य और विद्रोही बन जाता है। कर्ता के द्वारा अपने विचारों की थोपना भी परिवार के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न करता है।
3. **स्त्रीयों की हीन दशाः** संयुक्त परिवार एक ऐसी व्यवस्था है इसमें परिवार के सभी महिला सदस्य साथ रहने के कारण एक ही तरह के कार्य रोजाना करते रहने के कारण उब जाते है। घर के चार दीवारी के अन्दर रहना तथा कठोर अनुशासन में रहना उनकी नियति बन जाती है। परिवार में कर्ता की प्रधानता होने के कारण स्त्री आर्थिक उत्पादन का कार्य भी नही के बराबर करती है। उनके आपसी झगड़ों का निपटारा भी यह कहकर नहीं किया जाता है कि महिलाएं आपस में सामन्जस्य नहीं बिठा सकती। संयुक्त परिवार में स्त्रियों की दशा हीन होती है। वह अपने अनुसार न ही कार्य कर

सकती है और न ही घर के बाहर जा सकती है।

4. **द्वेश एवं क्लेश का केन्द्रः** संयुक्त परिवार में सदस्यों के बीच छोटी–मोटी एवं व्यर्थ के बातों में तनाव तथा संघर्ष उत्पन्न होता रहता है। भाईयों के बीच भी आपसी मन मुटाव होते रहते है। बच्चों के कारण भी लड़ाई हो जाती है। परिवार बड़ा होने के कारण खान–पान एवं सुख सुविधाओं को लेकर भी विवाद हो जाते है। स्वतंत्रता न मिलने के कारण भी असंतोष का वातावरण व्याप्त रहता है। परिवार का कठोर अनुशासन भी आपस में द्वेश एवं क्लेश को उत्पन्न करता है।
5. **औपचारिक संबंधः** परिवार बड़ा होने के कारण सदस्यों के बीच आपसी मतभेद होने के कारण उनके बीच के संबंध मात्र औपचारिक ही रह जाते है। आत्मीयता खत्म होकर केवल दिखावा ही रह जाता है। एक दूसरे को नहीं चाहते हुए भी साथ–साथ रहना पड़ता है। न चाहते हुये भी कार्य करना पड़ता है। कृत्रिम व्यवहार के कारण संबंधों में औपचारिकता ही बच जाती है। परस्पर सहयोग और स्नेह समाप्त हो जाती है।
6. **आर्थिक निर्भरता की स्थितिः** संयुक्त परिवार का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें कुछ सदस्य ही धनोपार्जन करते है और शेष सदस्य उन पर निर्भर होते है। आवश्यकता पूरी होते रहने के कारण कुछ सदस्य कामचोर हो जाते है और कमाने वाले व्यक्ति के ऊपर बोझ अधिक हो जाता है और सभी को समानता हासिल होने के कारण परिश्रम करने वाले सदस्यों को प्रोत्साहन नहीं मिलता। इसके अलावा समान्य सम्पत्ति समान्य कोष तथा जीवन निर्वाह के लिए सामूहिक योगदान के कारण आर्थिक निर्भरता की भावना विकसित हो जाती है।
7. **गतिशीलता में बाधकः** संयुक्त परिवार सदस्यो की गतिशीलता में भी बाधक है। परिवार का स्नेहपूर्ण वातावरण सदस्यों को घर छोड़कर बाहर नहीं जाने देता वहीं बाहर निकलने के कठोर

अनुशासन भी व्यक्ति की गतिशीलता में बाधक है। घर के चार दीवारी में ही परिवार के सदस्य बंधे हुए होते है जहां उपयुक्त सुविधाओं का आभाव रहता है। किसी एक के लिए विशेष सुविधा या शैक्षिक व्यवस्था नहीं हो पाती या योग्यता के अनुसार तथा क्षमता या रूचि के अनुसार कार्य नहीं मिल पाता।

8. **गोपनीय स्थान का आभावः** संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों के लिए सामान्य व्यवस्था होती है जिससे कोई भी बात गोपनीय नहीं रह जाती है। बच्चों के संबंध में या महिलाओं के जीवन में ऐसे भी कई बाते होती है जहां गोपनीयता की आवश्यकता पड़ती है लेकिन परिवार बड़ा होने एवं एक ही आवास होने कारण ऐसे स्थानों का अभाव रहता है। जहां कुछ गोपनीय कार्य एवं बातें साझा किया जा सके।

इस प्रकार हम देखे तो संयुक्त परिवार के अनेकों दोष हैं, जिसे समय एवं परिस्थिति के अनुकुल बदलने में कठिनाई उत्पन्न होती है। कुछ बदलाव को यदि संयुक्त परिवार में अपना लिया जाये तो संयुक्त परिवार की विशेषताओं में वृद्धि हो जायेगी।

2. **एकाकी परिवारः** जहां भारत में प्रारंभ से संयुक्त परिवार की प्रधानता रही है। वहीं आज पश्चिमी औद्योगीकृत समाजो में एकाकी परिवार (नाभिक, प्रारंभिक, केन्द्रक एवं एकल परिवार) की प्राधनता पाई जाती है। एकाकी परिवार समान्यतः छोटा परिवार है। इस परिवार में पत्नि–पति की स्थिति एक समान रहती है। परिवार में बच्चों के व्यक्तित्व विकास में विशेष ध्यान दिया जाता है। बच्चों की संख्या भी सीमित रहती है। सदस्य कम होने के कारण परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया जाता है। नियम और अनुशासन भी अधिक कठोर नहीं होते है। गोपनीयता का भी ध्यान रखा जाता है। गतिशीलता के लिए भी अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। ऐसे परिवार में महिलाएं भी सक्रिय रूप से हर क्षेत्र में कार्य करती है। जिम्मेदारियां कम होने के कारण महिलाओं को आगे बढ़ने के समान अवसर प्राप्त होते है। वर्तमान समय में एकाकी

परिवार को ही सर्वश्रेष्ठ परिवार माना जा रहा है। एकाकी परिवार में ही उत्सव मिलजुलकर मनाने की प्रथा है। विभिन्न विद्वानों द्वारा एकाकी परिवार की परिभाषा दी गई है।

लॉवी के अनुसार, ''पति–पत्नि तथा अपरिपक्व आयु के बच्चों से मिलकर बनी एक ईकाइ है जो शेष समुदायों से पृथक होती है।''

श्रीनिवास के शब्दों में, ''व्यक्ति, उसकी पत्नि और अविवाहित बच्चों के गृहस्थ समूह को प्रारंभिक अथवा एकाकी परिवार कहते है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि एकाकी परिवार में केवल पति–पत्नि और अविवाहित बच्चों सहित अथवा माता–पिता केवल अपने ही बच्चों के साथ रहते है।

एकाकी परिवार की विशेषताएं

जहां सयुक्त परिवार की अनेको विशेषताएं है वहां एकाकी परिवार की भी अधिकांश विशेषताएं है जो निम्न हैः

1. **लघु आकारः** एकाकी परिवार आकार में लघु आकार के होते है। पति–पत्नि और उनसे उत्पन्न बच्चे ही इस परिवार के सदस्य होते है। लघु आकार होने के कारण सुविधाओं में भी बढ़ोतरी होती रहती है और आवास भी छोटा रहता है। परिवार के संचालन में भी सभी का समान सहयोग रहता है।
2. **आर्थिक स्वालंबनः** एकल परिवार में कम सदस्य होने के कारण सभी को आर्थिक क्षेत्र में अपने अनुरूप कार्य चयन की सुविधा रहती है। पति या पत्नि तथा पुत्र या पुत्री अपनी योग्यता एवं शिक्षा के अनुसार रोजगार करने के लिए स्वतंत्र रहते है। वे परिवार के मुख्या पर निर्भर नहीं रहते छोटी–छोटी जरूरतों के लिए सदस्य पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर रहते है। व्यवसाय के लिए घर से दूर जाने की भी अनुमति रहती है।
3. **स्त्रियों की मजबूत स्थितिः** एकाकी परिवार में स्त्रियों की स्थिति मजबूत होती है वे हर क्षेत्र में कार्य करने तथा अपने विचार रखने

के लिए स्वतंत्र रहती है। संयुक्त परिवार जैसे बंधन एकल परिवार में नहीं होते है। परिवार में महिलाओं की संख्या कम होने से आपसी मतभेद और मनमुटाव भी नहीं होते है। जिससे आपसी कलह एव द्वेश की भावना भी नहीं रहती।

4. **सरल अनुशासनः** एकाकी परिवार में सदस्यों को कठोर अनुशासन में नहीं रहना पड़ता है। सदस्यों की संख्या कम होने के कारण नियमों में भी लचीलापन देखने को मिलता है। माता–पिता स्वयं अपने बच्चों पर कठोर अनुशासन का बोझ नहीं डालते है। अनुशासन में शीथीलता ही व्यक्ति को सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने में प्रोत्साहन करती है। यदि अनुशासन में बांध दो तो सदस्यों के लिए अवसर कम हो जाते है।
5. **गतिशीलता के अवसरः** हर व्यक्ति एक पद से दूसरे ऊँचे पद में जाना चाहता जिसे गतिशीलता कहते है। एकाकी परिवार में व्यक्ति को गतिशीलता के अवसर अधिक प्राप्त होते है। बच्चों की रूचियों को भी विशेष ध्यान दिया जाता है। यही कारण है कि बच्चों को अपने रूचि के क्षेत्र में कार्य करने एवं शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्राप्त होते है।
6. **सदस्यों के बीच भावनात्मक लगावः** एकाकी परिवार छोटा होने के कारण सदस्यों के बीच भावनात्मक लगाव अधिक होता है। इस प्रकार के परिवार में अधिक एकांत और आपसी मेल मिलाप के अवसर के कारण एक दूसरे से लगाव अधिक होता है। सदस्यों को एक दूसरे को समझने के अवसर भी अधिक प्राप्त होते है। कम सदस्य होने के कारण ही ऐसा संभव हो पाता है।
7. **स्वतंत्र निर्णय क्षमताः** एकल परिवार में बच्चों को स्वयं निर्णय लेने के लिए उत्साहित किया जाता है। जिससे उनका आत्मविश्वास बढ़ता है। बड़ो को भी निर्णय लेने में अधिक लोगों को पूछना नहीं पड़ता जिस कारण सदस्यों में स्वतंत्र निर्णय क्षमता में वृद्धि होती है। जो व्यक्ति विकास तथा सामाजिक विकास में मद्दगार होते है।

स्वतंत्र निर्णय लेने के कारण ही सदस्य आत्मनिर्भर बनते है।

एकाकी परिवार के दोष

संभवतः एकाकी परिवार संयुक्त परिवार से सर्वश्रेष्ठ है किंतु एकाकी परिवार के कुछ दोष भी सामने आये है। जो निम्न हैः

1. **अनुशासन की कमीः** एकल परिवार में अत्यधिक छुट एवं रोकने टोकने वाले कम होने कारण अनुशासनहीनता बढ़ जाती है। सभी सदस्य अपने–अपने अनुसार जीवन के मापदण्ड निर्धारित कर लेते है। अत्यधिक स्वतंत्रता मिल जाने के कारण भी परिवार के सदस्य अनुशासन में रहना पसंद नहीं करते है। और परिवार की एकता प्रभावित हो जाती है।
2. **परम्पराओं की अवहेलनाः** एकाकी परिवार में बड़े बजुर्ग कम होते है जो परम्पराओं को मानने वाले होते है। नये पीढ़ी के बच्चे अपने दादा–दीदी या परिवार के अन्य बुजुर्ग सदस्य से ही अपनी परम्पराओं को सीखते है। किन्तु एकाकी परिवार में माता–पिता और उनके बच्चे होने के कारण परम्पराओं का निर्वहण नहीं हो पाता। उन्हें अपने परिवार के रीति नियम प्रथाओं को बताने और समझाने वाले नहीं होते। माता–पिता के पास अपने बच्चों को ये सब बताने का समय नहीं रहता और परम्पराएं आगे नहीं बढ़ पाती है तथा बच्चे अपनी परम्पराओं को भूलने लगते है।
3. **परिवार का आधुनिकीकरण होनाः** औद्योगिकीकरण के कारण ही संयुक्त परिवार विघटित होकर शहरों में आ जाते है जहां आधुनिकीकरण का जोर अधिक रहता है। लेकिन अत्यधिक आधुनिकरण परिवार एवं परिवार के सदस्यों को एक दूसरे से अलग करने में भी सहायक होते है। शहर आने के बाद परिवार का कोई भी सदस्य पैतृक स्थान पर कम ही जाता है। यही कारण है कि आधुनिकता के साथ पाश्चात्य सभ्यता की अंधी दौड़ में व्यक्ति दौड़ने लगता है। कुछ आधुनिक विचारों के द्वारा ही समाज के

मूल्यों को तौलने लगता है और परिवार के चार सदस्य चार दिशाओं में बंट जाते है। सामाजिक मूल्यों, स्नेह, पड़ोस से संबंध एवं ये नाते गौण हो जाते है।

4. **परिवार के बुजुर्गों की अवहेलनाः** एकाकी परिवार में बुजुर्ग सदस्यों को अलग या उनके गांव या पैतृक घर पर रखा जाता है। परिवार इतना लघु होता है कि बुजुर्ग सदस्यों के लिए शहरी घरों में आवास की समस्या उत्पन्न हो जाती है। शहरी खर्च पूरे नहीं होने के कारण परिवार अधिक सदस्यों की व्यवस्था नहीं कर पाता। यदि बुजुर्ग रहना भी चाहें तो अधिक दिनों तक उन्हें रखना संभव नहीं हो पाता है। इस प्रकार बुजुर्गों की अवहेलना एकाकी परिवार में देखने को मिलती है।

5. **वृद्धाश्रमों में वृद्धिः** एकाकी परिवार के चलन ने वर्तमान समय में वृद्धाश्रमों में वृद्धि कर दिया है। नई पीढ़ी के पास न ही समय है न ही धन है कि वो अपने माता–पिता की जिम्मेदारी उठा सके। शहरों की भौतिक दुनिया में व्यक्ति अपने आप के लिए भी समय नहीं निकाल पाता है। इसलिए दिनो–दिन वृद्धाश्रमों में वृद्धि हो रही है। आर्थिक स्वतंत्रता तथा स्वतंत्र निर्णय क्षमता भी इसकी एक वजह है।

6. **धार्मिक उत्सवों में औपचारिकताः** पहले परिवार के सभी सदस्य धार्मिक उत्सवों को मिलकर मनाते थे और कई–कई दिनों तक तैयारी करते थे। एक–दूसरे के घर आना जाना भी होता था किन्तु एकाकी परिवार के चलन में इस प्रकार के उत्सवों को औपचारिक बना दिया है। अब धार्मिक उत्सव एवं अन्य पारिवारिक संस्कार सिमटते नजर आ रहे है। व्यक्ति को इतना समय ही नहीं है कि वह परिवार के सभी सदस्यों को बुलाये एवं उत्सव मानये। अब तो तीन दिन का उत्सव मात्र एक दिन के कुछ घंटो तक ही मनाये जाते है। उत्सव तथा नाते रिश्तेदार मात्र औपचारिक रूप से मनाये और निभाये जाते है।

7. **बच्चों की परिवरिष पर प्रभावः** एकाकी परिवार में पति–पत्नि कामकाजी होने के कारण बच्चों की परिवरिश प्रभावित होती है। संयुक्त परिवार में दादा–दादी बच्चों के परिवरिश में साथ देते थे। किन्तु एकाकी परिवार में यह बात नहीं रह गई है। कुछ परिवारों में बच्चे नौकरों के भरोसे ही छोड़ दिये जाते है। बच्चों को किसी बड़े की आवश्यकता रहती है नहीं मिलने पर बच्चे बड़ों के प्यार एवं दुलार से वंचित रह जाते है। कहीं–कहीं बच्चे उदण्ड भी हो जाते है।
8. **संस्कारो का अभावः** एकाकी परिवार में जहां एक ओर स्वतंत्रता अधिक मिलती है वहीं बच्चें संस्कृति और संस्कारों से दूर होते जाते है। पाश्चात्य संस्कृति का अनुसरण करते दिखाई पड़ते है। परिवार की अत्यधिक गतिविधियां भी सदस्यों को एक दूसरे से दूर कर देती है। जो संस्कार परिवार को जोड़े रखती है उन संस्कारों का अभाव हो जाता है।
9. **वास्तविकता समाप्त हो जाती हैः** एकाकी परिवार के बढ़ते दायरे में जीवन की वास्तविकता समाप्त हो रही है। सभी संबंधों के लिए मात्र एक ही नाम रह गया है। आज हर रिश्ता अंकल–आंटी तक सिमट गया है। रिश्तों के भाव एवं मायने एकाकी परिवार में बदल गये है। न ही हम किसी मदद के लिए तैयार रहते है न ही समय निकाल पाते है। कृत्रिम जीवन शैली ही पहचान बन गई है।

उपरोक्त बिन्दुओं पर नजर डाले तो एकाकी परिवार के दोष मनुष्यों को एकाकी ही बना के रख दिया है। जो कही न कही अवसाद उत्पन्न करने के कारक है। जो स्नेह, सहयोग, संस्कार और मार्गदर्शन की आवश्यकता मनुष्य को चाहिए रहता है वो सभी सकारात्मक बाते एकाकी परिवार में कम होते जा रहे हैं। आज संयुक्त परिवार की आवश्यकता फिर से महसूस होने लगी है। इस प्रकार संयुक्त परिवार एवं एकाकी परिवार के विशेषताओं एवं दोषों को हमने इस अध्याय में स्पष्ट कर दिया है।

परिवार के कार्य

परिवार मानव समाज की एक मौलिक और आधारभूत इकाई है। परिवार मानव समाज के लिए ऐसे कार्यों को सम्पादित करता है जो संभवतयाः सभ्य समाज के अन्य विकसित संगठनों द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। किसी भी समाज की निरंतरता के लिए परिवार का होना आवश्यक है। परिवार के कार्यों को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है।

परिवार द्वारा सम्पादित कुछ कार्य सार्वभौमिक होते है जिन्हें विभिन्न समाजों तथा विभिन्न कालो में परिवार द्वारा ही सम्पादित किये जाते है। जिनका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित हैः

1. **प्राणीशास्त्रीय कार्यः** परिवार द्वारा सम्पादित किये गये प्राणी शास्त्रीय कार्य को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है।
   - **यौन इच्छाओं की पूर्तिः** परिवार का एक महत्वपूर्ण कार्य है स्त्री–पुरूष के बीच यौन इच्छाओं की पूर्ति करना। विवाह की संस्था द्वारा समाज पति–पत्नि को यह अधिकार प्रदान करता है। जिससे समाज में अनैतिकता संबंधी बातों एवं कार्यों को समाप्त किया जा सके।
   - **संतानो उत्पत्तिः** परिवार के द्वारा मानव समाज को बनाये रखने के लिए या यह कहें कि समाज कि अस्तित्व व निरंतरता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए परिवार का यह कार्य अतिआवश्यक है। परिवार में उत्पन्न संतान को समाज मान्यता देता है। विवाहित पति–पत्नि द्वारा उत्पन्न संतान को परिवार अपना सदस्य के रूप में स्वीकार करता है। इस प्रकार परिवार का यह कार्य या परिवार द्वारा किया गया यह कार्य परिवार एवं समाज को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को आगे बढ़ाती हुई चलती है।
   - **प्रजाति को निरंतरताः** परिवार द्वारा मनुष्य अपने वंशजों के रूप में अनंत काल तक जीवित रहता है। अपने संतानों द्वारा अपनी

प्रजाती को भी इस धरती पर निरंतर बनाये रखती है। परिवार का यह कार्य मानव के विभिन्न प्रजातियों को निरंतरता प्रदान करती है। जिसमें प्रजाती अपने वंश के नियम कानूनों को अक्षुण्य बनाये रखती है।

2. **सामाजिक कार्यः** परिवार द्वारा किया गया यह कार्य परिवार के सदस्यों एवं छोटे बच्चों को सामाजिक प्राणी के रूप में खड़ा करती है। परिवार समाज विशेष के अनुसार सामाजिक अनुकूलन द्वारा परिवार के सदस्यों के लिए किये गये सामाजिक कार्य निम्न हैः

- **सामाजिकरणः** परिवार बच्चों को अपने समाज द्वारा किये जाने वाले व्यवहार को सिखाता है। अपने जन्म के समय बालक एक मनोशारीरिक प्राणी होता है। उनमें सामाजिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित करना ही सामाजिकरण कहलाता है। परिवार बालकों को भाषा, रीति–रिवाज, परम्पराएं, रहन–सहन, खान–पान, सामाजिक मूल्य, धर्म आदि बातों को सिखाता है एवं बालक अनुसरण के द्वारा इन बातों को सिखता है। परिवार सामजिक व्यवस्थाओं के अनुरूप बालक को ढालने का कार्य करता है। यही समाजीकरण कहलाता है।
- **सामजिक नियंत्रणः** परिवार का दूसरा सामजिक कार्य है सामाजिक नियंत्रण। परिवार भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में अनुचित कार्य करने पर या अनुशासन तोड़ने पर नियंत्रण रखती है और दण्ड का प्रावधान भी स्थापित करती है। परिणाम स्वरूप समाज में नियम बना रहता है। और परिवार का हर सदस्य सामाजिकता के दायरे में ही रहकर कार्य करता है।
- **पदों का निर्धारणः** परिवार व्यक्ति को पारिवारिक स्थिति के अनुरूप पद या सम्मान का निर्धारण करता है। सभी परिवारों की स्थिति और कार्य पारिवारिक परिस्थितियों के अनुरूप ही रहते है। परिवार इन्हीं के अनुरूप पदों का विभाजन व वर्गीकरण एवं निर्धारण करता है।

- **भूमिकाओं का निर्धारणः** परिवार का यह सामाजिक कार्य परिवार के सदस्यों के भूमिकाओं का निर्धारण करने में सहायक रहता है। और इसी निर्धारण के अनुसार सदस्य अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करता है। हमारी भूमिकाएं बदलती रहती है। बदले हुये परिवेश में हमारी भूमिका क्या होगी और हमें इसका निर्वाह कैसे करना है। यह बताना भी परिवार का ही कार्य है।
- **व्यवहार का एक निचित मापदण्डः** परिवार, परिवारिक मान्यताओं के अनुरूप एक निश्चित मापदण्ड कायम रखता है और यही मापदण्ड व्यक्ति, समाज एवं परिवार के अनुकुल कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

3. **शारीरिक सुरक्षा संबंधी कार्यः** परिवार के द्वारा सदस्यों के लिए शारीरिक सुरक्षा प्रदान करना भी एक महत्वपूर्ण कार्य है। जिसे निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है।

- **सदस्यों की शारीरिक सुरक्षाः** परिवार के द्वारा परिवार के, बढ़े, असाहय, रोगी, स़्त्री, बच्चों आदि की शारीरिक देख–रेख व उन्हें सुरक्षा प्रदान करने का कार्य किये जाते है जिससे परिवार की महत्ता बनी रहें।
- **भोजन का प्रबंधः** परिवार का एक महत्वपूर्ण कार्य परिवार के सदस्यों के लिए भोजन की व्यवस्था करना भी है। बिना भोजन के मानव जीवित नहीं रख सकता है और व्यक्ति भोजन के लिए अपने ही परिवार के ऊपर निर्भर रहता है। परिवार में स्त्री एवं पुरूष दोनों का यह दायित्व बनता है कि वो मिलकर घर बाहर के कार्य करके परिवार के सदस्यों के लिए अच्छा से अच्छा भोजन का प्रबंध करें। जिससे परिवार के सदस्यों का शारीरिक विकास पूर्ण रूपेण हो सके।
- **निवास का प्रबंधः** परिवार द्वारा निवास का प्रबंध करके परिवार के सदस्यों को प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षित रखना भी परिवार का शारीरिक कार्य है। जिसमें परिवार अपने आवश्यक समान आदि

सुरक्षित रखता है। जब से सभ्यता का विकास हुआ है। तब से व्यक्ति के लिए एक परिवार तथा एक निवास स्थान आवश्यक हो गया है। जिसकी जिम्मेदारी परिवार के ऊपर ही है।

- **बच्चों का पालन पोषणः** परिवार के शारीरिक कार्य के अन्तर्गत बच्चों का पालन पोषण करना भी शामिल है। जन्म के समय से ही बच्चों की देखभाल, पालन पोषण आदि की व्यवस्था माता–पिता और बड़े–बूढ़ों द्वारा की जाती है। इसलिए परिवार बच्चों के पालन–पोषण का प्राथमिक केन्द्र है। अच्छी परवरिश एवं शारीरिक मानसिक विकास करना परिवार का ही कार्य है। जिससें बालक बड़ा होकर परिवार के कार्यों में मदद कर सके।
- **वस्तुओं की व्यवस्थाः** समाज के स्तर एवं कार्य के अनुरूप विभिन्न वस्तुओं की आवश्यकता सदस्यों को पड़ती है। जैसे विद्यालय जाने वाले बालक या कार्य पर जाने वाले सदस्यों की आवश्यकता वस्त्र या वाहन की होती है। जिसकी व्यवस्था करना परिवार के शारीरिक कार्य के अन्तर्गत ही आते है।

4. **आर्थिक कार्यः** परिवार हमेशा आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र रहा है। चाहे कृषि कार्य हो या व्यवसाय संबंधी कार्य हो। परिवार ही धन अर्जन करके परिवार की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। परिवार के आर्थिक कार्य निम्नलिखित हैः

- **श्रम विभाजनः** श्रम विभाजन परिवार से ही प्रारंभ होता है। परिवार में महिलाओं, बच्चों, पुरूषों, बुजुर्गों में कार्य का बटवारा परिवार के द्वारा ही किया जाता है। पुरूष कोई भी नौकरी, व्यवसाय या कृषि कार्य करके आय प्राप्त करते है। तो घर की महिलाएं घर की व्यवस्था का कार्य करती है। घर के सभी बड़े–बूढ़े सामाजिक कार्यों में पहल करते है। परिवार में बच्चों के लिए भी कुछ छोटे–मोटे कार्य निर्धारित किये जाते है। इस प्रकार परिवार श्रम विभाजन का कार्य करती है।
- **आय एवं सम्पत्ति का प्रबंधः** परिवार अपने सदस्यों के लिए आय

की व्यवस्था एवं अचल सम्पत्ति का प्रबंध करता है। अपनी मासिक आय को उचित ढ़ंग से व्यय करने का प्रबंध करके परिवार का आर्थिक संचालन करता है। सभी प्रकार की सम्पत्तियों की देख–भाल भी परिवार के द्वारा ही किया जाता है। व्यक्ति अपनी आय का कुछ हिस्सा बचत भी करता है, ताकि आकस्मिक व्यय की व्यवस्था हो सके या वृद्धावस्था में उस आय का उपभोग कर सके।

- **उत्तराधिकार का नियंत्रणः** परिवार सम्पत्ति के उत्तराधिकार संबंधी कार्य भी करता है। परिवार द्वारा यह निश्चित रहता है कि उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी कौन–कौन होगा। पितृसत्तात्मक परिवार तथा मातृसत्तात्मक परिवार में उत्तराधिकार की व्यवस्था अलग–अलग होती है। व्यवस्था के अनुसार उत्तराधिकारी का निर्धारण परिवार के आर्थिक कार्य के अन्तर्गत आते है।
- **आर्थिक क्रियाओं का केन्दः** परिवार आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र बिन्दु होता है। प्रत्येक परिवार का कोई न कोई व्यवसाय होता है। इस व्यवसाय को परिवार के सदस्य आगे बढ़ाते एवं विस्तारित करते है। जिससे आय के श्रोत बढ़े। उत्पादन में वृद्धि एवं विभिन्न श्रोतों से आय में वृद्धि करना परिवार का ही आर्थिक कार्य होता है।

5. **धार्मिक कार्यः** परिवार धार्मिक प्रशिक्षण का केन्द्र होता है। क्योंकि बालक जन्म से ही किसी एक धर्म को धारण करता है। जो उसके परिवार का धर्म होता है। वैसे तो धर्म के अनेको रूप है। किन्तु बालक परिवार द्वारा अपनाये गये धर्म को ही स्वीकार करता है। परिवार अपने बच्चों को अपने धर्म के अनुसार पूजा–पाठ, अराधना, भक्ति एवं धार्मिक कृत्यों के लिए तैयार करता है। जिससे धर्म विशेष का महत्व परिवार में बना रहता है। परिवार का छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कृत्य धार्मिक व्यवस्था के अन्तर्गत होता है। भारतीय परिवारों में यह माना जाता है कि व्यक्ति के प्रत्येक समस्याओं का सामाधान हमारे धार्मिक ग्रंथों में मिलता है। धर्म संबंधी आचरण करना परिवार के द्वारा बताया जाता है। धार्मिक कार्य परिवार के

नैतिकता से जुड़ा हुआ होता है। परिवार धर्म की शिक्षा के द्वारा धार्मिक मूल्यों, सामाजिक मूल्यों एवं नैतिक मूल्यों को आत्मसात करना सिखाता है। इस प्रकार परिवार के धार्मिक कार्य परिवार के सदस्यों को समाज एवं देश के लिए तैयार करने में मदद करती है। सच्चाई, ईमानदारी और निष्ठा की ओर हमें प्रेरित करती है। दैनिक जीवन में कार्य करते हुये धर्म का पालन कैसे करना चाहिए यह परिवार ही बताता है। बच्चों के लिए वेद–शास्त्रों में लिखी चरित्र निर्माण की काहनियां परिवार के धर्म संबंधी कार्य है।

6. **सांस्कृतिक कार्यः** परिवार संस्कृति के मूल तत्वों को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक पहुंचाने का कार्य करता है। एक प्रकार से कहे तो परिवार संस्कृति के हस्तांतरण का कार्य करती है। जिससे हमारी संस्कृति जीवित रहे। बच्चे अपने माता–पिता, दादा–दादी से सांस्कृतिक परम्पराएँ, मूल्य, आदर्श, रीति–रिवाज आदि को पारिवारिक वातावरण में धीरे–धीरे ग्रहण कर लेते है। संस्कृति को सीखाना तथा संस्कृति के अनुरूप आचरण करना ये सभी कार्य परिवार के सांस्कृतिक कार्य है। अपने–अपने संस्कृति के अनुसार क्रियाएं सीखाना भी परिवार के सांस्कृतिक कार्य है। धर्म के बाद संस्कृति ही है जो एक समाज को दूसरे समाज से भिन्न करती है। और अलग–अलग संस्कृतियों को सिखाती है।

7. **शैक्षणिक कार्यः** शैक्षणिक कार्य परिवार का अति महत्वपूर्ण कार्य है। स्कूल, महाविद्यालय या कोई भी शैक्षिक संस्था शिक्षा के औपचारिक साधन है परंतु अनौपचारिक शिक्षा परिवार के सदस्यों द्वारा ही दिये जाते है। परिवार को बालक का प्रथम पाठशाला माना गया है। परिवार द्वारा दी गई शिक्षा बच्चे के चरित्र और व्यक्तित्व निर्माण में अत्यधिक प्रभावशाली है। माता को बालक का प्रथम गुरू माना गया है। माता ही बच्चे की शिक्षा की शुरूआत करती है। जो बालक के औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के रूप में जीवन पर्यंत चलती है। परिवार में यदि अच्छी शिक्षा प्रदान की जाती है तो

बालक आगे भी शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति करता है। उत्तम शिक्षा व्यवस्था परिवार का दायित्व होता है। बालक के रूचि और क्षमता के अनुसार शिक्षा व्यवस्था करना तथा शैक्षिक साधनों की समुचित व्यवस्था करना परिवार का ही कार्य है।

8. **मनोवैज्ञानिक कार्यः** परिवार अन्य कार्यों के साथ ही मनोवैज्ञानिक कार्य भी संचालित करता है परिवार के सदस्यों को मानसिक सुरक्षा प्रदान करना, सदस्यों के बीच प्रेम, साहनभूति, त्याग, धैर्य आदि भावनाओं को पोषित करने का कार्य करती है। परिणाम स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति मानसिक रूप से निश्चिंत रहकर सभी सदस्यों के साथ मिलजुलकर रहता है। परिवार के सदस्य दुख सुख में एक दूसरे का साथ देते है। इस प्रकार से व्यक्ति के मनोबल में वृद्धि होती है। मानसिक शांति प्राप्त होने से व्यक्ति अनेक प्रकार के विकास संबंधी कार्य करने में अग्रसर रहता है।

9. **मनोरंजनात्मक कार्यः** परिवार के सदस्य आपस में मिलकर सामूहिक रूप से खेल, टेलीविजन, विडियों, इंटरनेट, भ्रमण, पर्यटन, धार्मिक, सांस्कृतिक क्रिया आदि मनोरंजन के रूप में करते रहते है। इस प्रकार परिवार मनोरंजन के साधन प्रस्तुत करता है। समूहों में भी बटकर प्रतियोगिता के रूप में मनोरंजनात्मक कार्य परिवार में किये जाते है। सबसे बड़ा मनोरंजन परिवार के बच्चों के द्वारा होता है। परिवार का यह कार्य व्यक्ति के थकान दूर कर नई स्फूर्ति देता है। कुछ मनोरंजन संबंधी कार्य दो परिवार द्वारा भी मिलकर किया जाता है।

10. **राजनीतिक कार्यः** परिवार द्वारा सदस्यों एवं छोटे बच्चों को राज्य के आदर्श नागरिक बनाने का सर्वप्रथम कार्य परिवार में ही होता है। राजनीति एवं सत्ता की जानकारी देना राजनीति में नेता की भूमिका को स्पष्ट करना परिवार का ही कार्य है। परिवार में बच्चों को नेतृत्व शक्ति भी प्रदान किये जाते है। नागरिकता का सर्वश्रेष्ठ पाठ बालक परिवार से ही सीखता है। राष्ट्रीय एवं अंर्तराष्ट्रीय एकता बनाये

रखने में भी परिवार की राजनीतिक भूमिका रहती है। राज्य के प्रतीकों की जानकारी देना देश के राजनितिक महापुरूषों की जीवनियों को बताना एवं समाज के लिए उनके द्वारा किये गये कार्यों को बताना भी परिवार का ही कार्य है।

परिवार की विशेषताएँ

परिवार की विशेषताएं ही परिवारों को सभी कालो में सर्वोपरि स्थान दिलाया है। परिवार ही व्यक्ति की पहली पहचान है। मानव समाज की सर्वोत्तम देन है। परिवार की विशेषताओं को हम निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट कर सकते हैः

1. **सार्वभौमिकताः** परिवार एक सौर्वभौमिक संस्था है। यह सभी स्थानों पर किसी न किसी रूप में सदियों से विद्यमान है। विभिन्न स्वरूपों तथा विभिन्न प्रकारों में परिवार हमें देखने को मिलते है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो किसी न किसी परिवार का सदस्य ना हो। परिवार की महत्ता एवं विशेषता ही परिवार को सार्वभौमिकता प्रदान करती है।
2. **अनिवार्य सदस्यताः** परिवार की सदस्यता अनिवार्य होती है व्यक्ति जन्म से ही परिवार का हिस्सा बन जाता है और जीवन पर्यंत बना रहता है। सदस्यता ग्रहण करना व्यक्ति के इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। जन्म लेते ही परिवार की सदस्यता बालक को प्राप्त हो जाती है।
3. **परिवार समाज की मौलिक इकाईः** परिवार समाज की एक मौलिक इकाई है। समाज की संरचना के विकास की सीढ़ी परिवार ही है। विभिन्न इकाईयाँ मिलकर बड़े समुदाय एवं राज्य का गठन करते है। जिसे सुचारू रूप से चलाने के लिए विभिन्न संस्थाओं का गठन भी करना पड़ता है। जो परिवार को स्थायीत्व प्रदान करते है।
4. **अपनत्व की भावनाः** परिवार में सदस्यों की बीच अपनत्व की भावना होती है। परिवार के सभी छोटे–बड़े सदस्य एक दूसरे के

दुख–सुख में बराबर के हिस्सेदारी रखते है। यदि परिवार का कोई सदस्य किसी कार्यवश परिवार से दूर हो तब भी उसके मन में परिवार के शेष सदस्यों के प्रति अपनत्व की भावना रहती है और यही भावना परिवार के सदस्यों को एक सूत्र में बांधकर रखती है। अपनत्व की भावना होना परिवार के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों को उजागर करती है।

5. **एक निवास स्थानः** परिवार के सभी सदस्यों का एक ही निवास स्थान होता है। निवास स्थान का आकार छोटा हो या बड़ा सभी सदस्य एक ही स्थान पर रहते है। बजुर्ग, युवा एवं बच्चे सभी सदस्यों को उनके आवश्यकता के अनुसार निवास स्थान पर जगह प्रदान की जाती है। एक निवास स्थान में रहने के कारण परिवार के सदस्यों में एकता एवं सहयोग की भावना बलवती होती है।

6. **सदस्यों का उत्तरदायित्वः** परिवार के सभी सदस्यों के उत्तरदायित्व बंधे एवं बटे हुये होते है। सभी सदस्य अपने–अपने हिस्से का कार्य सुगमता पूर्वक करते है। सदस्यों के बीच अपने उत्तरदायित्व को लेकर कोई भी विवाद नहीं होता है। सदस्यों का यह उत्तरदायित्व ही परिवार को और भी अधिक मजबूत बनाता है तथा बड़ो–छोटो में कार्य का विभाजन भी करता है।

7. **सामाजिक नियंत्रण का प्रभावी स्थानः** परिवार की यह विशेषता परिवार रूपी संस्था को अक्षुण्य रखती है। परिवार का कोई सदस्य यदि अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा पा रहा हो या परिवार के द्वारा स्थापित नियमों को उल्लघंन कर रहा हो तो परिवार उसे अपने तरीके से नियंत्रित करती है। जिससे व्यवस्था कायम रहें और समाज में किसी प्रकार का कोई संकट न आये। यदि परिवार अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखती है तो समाज एवं समुदाय में किसी प्रकार की हिंसा या मतभेद नहीं होंगें। यह कार्य परिवार के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक परिवार के नियंत्रण करने का रूप अलग–अलग होता है।

8. **रक्त संबंधों का बंधनः** परिवार रक्त संबंधों में बंधा होता है। वंश वृक्ष की शुरूआत परिवार से ही होती है परिवार में जीतने भी सदस्य होते है। वे सभी एक ही पुर्वज माने जाते है। और यही कारण है कि परिवार में अपनत्व भी अधिक होती है। कहीं न कहीं यह रक्त बंधन समाज में आत्मिक रूप से स्वीकार की गई होती है।
9. **सामाजिकरणः** परिवार की यह विशेषता परिवार में जन्में बालक को मानव तुल्य बनाती है। प्रत्येक परिवार अपनी परम्पराओं और रीति–रिवाजों एवं प्रथाओं को आने वाली पीढ़ी को सिखाती है और बालक इसे अनुकरण के द्वारा सीखता है। यही समाजिकरण कहलाता है। समाज के विभिन्न अभिकरणों की भूमिका सामाजिकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण होती है और बालक अपने परिवार के अनुरूप व्यवहार करता है।
10. **आर्थिक व्यवस्थाः** प्रत्येक परिवार अपने परिवार को सुचारू रूप से चलाने के लिए विभिन्न कार्य करके आय अर्जन करता है। एक प्रकार से कहें तो परिवार अपने सदस्यों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान कर आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और आगे भी अपने बच्चों के लिए आर्थिक व्यवस्था करता है। जिससे वे उनका लाभ लेकर अपनी अर्थव्यवस्था को स्थापित कर सके।

इस प्रकार से परिवार नामक का संस्था वर्णन इस अध्याय में किया गया है। जिसमें हमने देखा कि परिवार ही मानव के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए निरंतर प्रयासरत रहती है। परिवार के विभिन्न कार्यों को स्पष्ट कर यह बताया गया है कि परिवार विभिन्न कार्यों के द्वारा अपने सदस्यों को सुरक्षा एवं संरक्षण देती है। मानव को मानव होने के उद्देश्यों से परिचित कराती है। एक आदर्श नागरिक होने के नाते व्यक्ति के क्या–क्या दायित्व है उसे बताती है। इस अध्याय में परिवार के प्रकारों का भी वर्णन किया गया है विभिन्न प्रकारों में संख्या के आधार पर परिवार के दो प्रकारों को भारत में आजतक अपनाया गया है। संयुक्त परिवार तथा एकाकी परिवार। संयुक्त परिवार के बहुत से गुण है तो दोष भी हैं। उसी

प्रकार एकाकी परिवार के भी जितने गुण है उतने ही दोष भी देखने को मिलते है। कुछ हद तक परिवार को सफल बनाना परिवार के सदस्यों पर भी निर्भर करता है। परिवार एक इकाई है। इन्हीं इकाईयों से समाज एवं समुदाय का निर्माण होता है और विभिन्न समुदाय मिलकर राज्य का गठन करते है। तो यहां पर परिवार का मजबूत होना बहुत आवश्यक हो जाता है।

परिवार के प्रकारो में पितृात्मक परिवार भारत में अधिकतर क्षेत्रों में प्रचलित है यह परिवार पुरूष प्रधान होता है परंतु समय परिवर्तन के साथ–साथ परिवारिक सत्ता में भी परिवर्तन नजर आने लगा है। अब पति एव पत्नि दोनों को परिवार रूपी गाड़ी के पहिये माने जाने लगा है जिस प्रकार एक पहिया के बिना गाड़ी नहीं चलती उसी प्रकार परिवार में भी दोनो का होना आवश्यक माना जाने लगा है। आधुनिक औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप परिवार की रचना एवं कार्यों में गंभार परिवर्तन परिलक्षित हुये है। पहले सभी समाजों में परिवार समाज की सबसे महत्वपूर्ण मौलिक संस्था थी कुछ बदलाव के साथ आज भी यह समाज की सबसे महत्वपूर्ण मौलिक संस्था हैं।

––==00==––

नातेदारी

भूमिका

परिवार की भांति ही नातेदारी सामाजिक संस्था एवं सामाजिक संगठन का मौलिक एवं प्राचीन आधार है। आदिम समाजों में लोगो को संबंधो में बांधने वाला आधार नातेदारी ही था। यही कारण है कि आदिकाल से परिवार सामाजिक संगठन का आधार रहा है। नातेदारी अधिकारों तथा दायित्वों की वह व्यवस्था है जो न केवल परिवार के सदस्यों के संबंधों को परिभाषित करती है। अपितु कई पारिवारिक इकाइयों के संबंधों को भी प्रकट करती है। नातेदारी व्यवस्था व्यक्तियों या परिवारों को जोड़ने वाली एक कड़ी है। नातेदारी को बंधुत्व, स्वजन, संगोत्र आदि कई नामों से जाना जाता है। नातेदारी एवं विवाह जीवन के आधारभूत तत्व है। यौन इच्छा ने विवाह को एवं विवाह ने परिवार एवं नातेदारी को जन्म दिया है इस रूप में देखे तो नातेदारी प्रजनन पर आधारित होती है।

नातेदारी का आधार मूलतः जैविक होते हुये भी इसका आधार सामाजिक होता है। अर्थात् नातेदारी में सामाजिक मान्यता जैविकीय तत्व पर आरोपित होती है। गोद ली गई संतान जैविकीय नहीं होती लेकिन सामाजिक मान्यता द्वारा इसमें जैविकीय संबंध स्थापित किया जाता है। इसमें सामाजिक स्वीकृति महत्वपूर्ण होती है। सामाजिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत नातेदारी शब्द के मूल्य अधिक है इसी की साहयता से समाज के समस्त प्राणियों के बीच स्थापित संबंधों की विवेचना की जाती है। नातेदारी में सार्वाधिक महत्वपूर्ण वे संबंध होते है जो रक्त संबंध के आधार शिला पर कायम होते है। यह भी कह सकते है कि जो रक्त संबंध अथवा समाज द्वारा मान्य किसी निकट संबंध की परस्पर अनुभूति रखते है। उसी के अनुसार आपस में व्यवहार करते है, नातेदार कहलाते है और इस पर आधारित समूह में आंतरिक विभेदीकरण एवं संगठन की व्यवस्था नातेदारी व्यवस्था कहलाती है।

नातेदारी रक्त संबंध पर आधारित हो सकती है अथवा विवाह संबंध पर। विवाह संबंधों के अन्तर्गत न केवल विवाहित दम्पत्ति आते है, अपितु पति के परिवार और पत्नि के परिवार के लोग पति के परिवार से संबंधी एवं पत्नि के परिवार के संबंधी सम्मिलित होते है। संबंधों का यह ताना–बाना बढ़ता जाता है और नातेदारी संबंधों में अनगिनत लोग शामिल होते जाते है किन्तु यथार्थ में वही लोग नातेदारी में शामिल किये जाते है जिनमें निकटता हो और वे एक दूसरे के नातेदार के रूप में पहचानते हो। व्यवहारिक नातेदार में पति–पत्नि, सास–ससुर, बहु, दमाद, साला, साली, फूफा–फूफी, देवर, भाभी, सरहज मौसा, साढू, जेठ–जेठानी, देवरानी, मामा–मामी, भाँजा, भाँजी, चाचा–चाची इत्यादि प्रमुख है। इसके अलावा इनके संबंधी भी नातेदारी के अन्तर्गत ही आते है। जैसे – साला, साली के ससुराल वाले या मौसा के घर वाले इत्यादि।

नातेदारी का अर्थ

नातेदारी वह व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति अनेको संबंधो से घिरा हुआ होता है जो उनके मृत्यु तक किसी न किसी रिश्ते के नाम से जाने पहचाने जाते है। कभी–कभी एक ही व्यक्ति से दो या दो से अधिक नाते भी जुड़ जाते है। ये सभी नाते पारिवारिक मान्यता प्राप्त या सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होते है। इनमें सामाजिक एवं आर्थिक सुरक्षा की भावना पाई जाती है जिससे सामाजिक, नैतिक और आर्थिक हित जुड़े हुये होते है। राष्ट्र, धर्म, प्रदेश सभी समय के साथ बदल सकता है। किन्तु नातेदारी एक बार जुड़ जाने के बाद बदला नहीं जा सकता।

नातेदारी की परिभाषाएं

नातेदारी की परिभाषाएँ निम्न हैः

राबिन फॉक्स के अनुसार, ''नातेदारी की अत्यंत सामान्य परिभाषा यह है कि नातेदारी केवल मात्र स्वजन अर्थात् वास्तविक ख्यात अथवा कल्पित समरक्ता वाले व्यक्तियों के मध्य संबंध है।''

एस. सी. दुबे के शब्दों में, ''मानव समाज में जन्म अथवा विवाह

के आधार पर परिवारों के सदस्य संबंध एवं व्यवहार की दृष्टि से एक दूसरे के बहुत समीप आ जाते है। इस प्रकार की प्रक्रिया के कारण कुछ प्रकार के सामाजिक संबंधों की सृष्टि होती है। इस विशिष्ट सुव्यवस्थित संबंध श्रृखला को नियोजित करने वाली प्रथा को हम नातेदारी कहते है।''

रेड क्लिफ ब्राउन के अनुसार, ''नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश संबंध है जो कि सामाजिक संबंधों के परम्परात्मक संबंधो का आधार है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि नातेदारी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित करते है जिनसे हमारा संबंध वंश के आधार पर या विवाह के आधार पर निर्मित होते है। ऐसे संबंधो को समाज की स्वीकृति आवश्यक है। परिवार, वंश, कुल, गोत्र, आदि ऐसे समुहों के उदाहरण है। जिन समूहों से नातेदारी व्यवस्था का जन्म होता है।

श्रीमती इरावती कर्वे ने भारत में पायी जाने वाली नातेदारी व्यवस्था का अध्ययन किया है जिसमें उन्होंने सम्पूर्ण भारत को चार भागो में बांटा है उत्तरीय, पूर्वीय, मध्य और दक्षिणी क्षेत्र। पूर्वी क्षेत्र की नातेदारी में जनजातियों की नातेदारी आती है। मध्य क्षेत्र में उत्तर एवं दक्षिण क्षेत्र की नातेदारी का मिश्रण पाया जाता है। उत्तरीय एवं दक्षिण क्षेत्र ही भारत में नातेदारी के दो भिन्न क्षेत्र है।

सामाजिक व्यवस्था में नातेदारी की भूमिका एवं महत्व

नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा को जानने के बाद यह जानना की नातेदारी की सामाजिक व्यवस्था में क्या भूमिका है एवं महत्व क्या है यह आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति एव समाज के अन्य पहलुओं को भी समझने में नातेदारी को समझना आवश्यक हो जाता है। सरल एवं आदिम समाजों में नातेदारी एक सामाजिक एवं वास्तविक संस्था है। विद्वानों ने माना है कि नातेदारी एक नींव है जिसपर व्यक्ति जीवन भर खड़ा रहता है। यह अनेको परिस्थितियों में मानव व्यवहार को नियंत्रित कर समाज को व्यवस्थित करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। समाजिक व्यवस्था में नातेदारी की

भूमिका एवं महत्व को हम निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट करते हैः

1. **सामाजिक दायित्वों का निर्वाहः** नातेदारी हमे हमारे सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करना सिखाती है नातेदारी के अन्तर्गत अनेकों रिश्ते नाते एक व्यक्ति के साथ जुड़ जाते है और हर रिश्ते के प्रति दायित्व अलग–अलग हो सकते है। कही वह मामा है तो कही वह भाँजा भी है कही वह दामाद है तो कही वह फुफा भी है यह तो मात्र उदाहरण है। हम नातेदारी के द्वारा अनेको रिश्तो से रिश्तेदार बन जाते है। सभी के प्रति जो सामाजिक दायित्व होते है उसका निर्वहन करना नातेदारी ही बताती है, कि किसके साथ कौन सा दायित्व जुड़ा हुआ है। इस प्रकार से सामाजिक दायित्वों को निभाकर सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में नातेदारी की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।
2. **विवाह एवं परिवार का निर्धारणः** नातेदारी यह तय करती है कि एक व्यक्ति के विवाह का क्षेत्र क्या होगा। समाज द्वारा किस प्रकार का विवाह मान्यता प्रदत्त है तथा किस प्रकार का विवाह समाज में निषिद्ध है दूसरे शब्दों में कहें तो अंतर विवाह, बर्हिविवाह या विवाह के विभिन्न स्वरूपों में किस विवाह को समाज द्वारा मान्य माना गया है यह निर्धारण नातेदारी के आधार पर ही होता है। परिवार का विस्तार नातेदारी का ही विस्तार है परिवार के विभिन्न प्रकार नातेदारी की भूमिका में पाये जाने वाले प्रकारो को निर्धारित करते है। परिवार में रक्त एवं विवाह संबंध पर आधारित सदस्य पाये जाते है। मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक परिवारों में विवाह एवं परिवार के स्वरूपों में अंतर पाया जाता है, यहाँ नातेदारों द्वारा एक दूसरे के मध्य व्यवस्था का निर्धारण किया जाता है। यहाँ पर नातेदारी की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।
3. **वंश, उत्तराधिकार एवं पदाधिकार का निर्धारणः** वंश, उत्तराधिकार एवं पदाधिकार का निर्धारण में नातेदारी की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। वंशावली की लंबाई प्रतिष्ठा का मापदण्ड नातेदारी को ही माना

गया है क्योंकि वंशावली के अंतर्गत आने वाले परिवार, वंश, गोत्र आदि नातेदारी के ही विस्तृत रूप है। एक व्यक्ति की पद एवं सम्पत्ति का हस्तांरण किन लोगों में होगा कौन लोग उसके दावेदार होंगे यह सभी बातें नातेदारी के आधार पर ही किया जाता है। कौन किसका उत्तराधिकारी होगा तथा उसके बाद किसे उत्तराधिकारी बनाया जायेगा या किस नातेदार को प्राथमिकता दी जायेगी ये सभी नातेदारी व्यवस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार नातेदारी व्यवस्था वंश एवं उत्तराधिकार की भूमिका का निर्धारण करता है।

4. **मानसिक संतोषः** नातेदारी व्यक्ति को सामाजिक पद एवं प्रतिष्ठा प्रदान कर मानसिक संतोष देने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एक नातेदारी विहिन व्यक्ति अपने आप को अकेला महसूस करता है या अपने दुख–सुख में शामिल करने के लिए किसी को भी अपने समक्ष नहीं पाता है। किन्तु नातेदारो से घिरा हुआ व्यक्ति हर पग पर अपने साथ किसी न किसी रिश्ते को अपने पास खड़ा पाता है। जिससे उसे मानसिक संतोष की अनुभूति होती है। समूह में रहना व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, नातेदारो के बीच अपने आप को पाकर वह मानवीय आनंद, प्रसन्नता तथा संतोष प्राप्त करता है और विपत्तियों से घबराता नहीं है।

5. **सामाजिक व्यवहार का नियमनः** व्यक्ति के आचरण पर नियंत्रण रखने में नातेदारी समूह की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। एक विशेष अवसर पर विशेष नातेदार की भूमिका को एवं उसके व्यवहार को अन्य नातेदार बहुत ही ध्यान से देखते एवं अनुकरण भी करते है तथा व्यवहार की प्रशंसा व आलोचना भी करते है इसलिए व्यक्ति से जिस व्यवहार की अपेक्षा की जाती है व्यक्ति उसी प्रकार का व्यवहार करना अपना धर्म समझता है। साधारणतः व्यक्ति को इस बात की चिंता रहती है कि उसके व्यवहार पर दुनिया या उसके अन्य नातेदार क्या कहेंगे इसी तरह नातेदारी व्यवस्था सामाजिक

व्यवहारो को समाज के आदर्शों के अनुरूप बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

6. **सामाजिक सुरक्षा एवं साहयता प्रदान करनाः** नातेदारी व्यवस्था जीवन के विशेष अवसरों पर व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा एवं साहयता प्रदान करती है। समाज में किसी प्रकार की विपत्ति या आपदा आने पर नातेदार ही मद्द करने आगे आते है। बुढ़ापा, दुर्घटना, बिमारी या बेकारी के विरूद्ध भी नातेदारी व्यवस्था सुरक्षा प्रदान करती है। यदि किसी बालक के माता–पिता के साथ कुछ हादसा हो जाये तो सबसे पहले नातेदारो से ही अपेक्षा की जाती है कि वे उसका देख–भाल करें। विवाह आदि के समय भी नातेदारों से सहायता की आशा की जाती है। इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा एवं सहायता प्रदान करने में नातेदारी की भूमिका रहती है।
7. **सामाजिक, सांस्कृतिक निरंतरता को बनाये रखनाः** नातेदारी व्यवस्था से जुड़े व्यक्ति एक–दूसरे के नजदीकी का या लगाव का अनुभव करते है एवं इस बात का ध्यान रखते है कि समाज के आदर्श और सांस्कृतिक मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते रहे। नातेदारी बंधुत्व की भूमिका का अहम अंग है। सामाजिक, सांस्कृतिक निरंतरता बनाये रखने में बंधुत्व की भूमिका अति महत्वपूर्ण है इसी उद्देश्य को लेकर समाज ने विवाह एवं उत्तराधिकार को नातेदारी की सामाजिक भूमिका में स्थान दिया है। इसी के माध्यम से नातेदारी व्यवस्था सामाजिक, सांस्कृतिक निरंतरता को बनाये रखने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
8. **मानव को सामाजिक प्राणी बनानाः** मानव को सामाजिक प्राणी बनाने में नातेदारी व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जन्म के समय बालक न तो सामाजिक होता है न ही असामाजिक। नातेदारी के अन्य सदस्यो के साथ रहते हुये एवं अनुकरण, सामाजिकरण के द्वारा धीरे–धीरे संबंधों का ज्ञान होने लगता है नातेदारी की रीतियो, प्रथाओं, मान्यताओं और विश्वासो के अनुरूप

वह स्वयं को ढालने लगता है और एक सामाजिक प्राणी बनकर समाज के प्रति अपने दायित्वों को निभाने में समर्थ बन जाता है। यदि बालक नातेदारो से दूर रहे तो सामाजिक प्राणी नहीं बन पायेगा।

9. **श्रम विभाजन को प्रोत्साहनः** नातेदारी व्यवस्था में विभिन्न रिश्तों के बीच कार्य भी विभिन्न होते है। प्रत्येक रिश्ते का निवर्हन क्षेत्र भिन्न–भिन्न होता है और वो अपने निवर्हन क्षेत्र के अंर्तगत ही कार्य करता है। इस प्रकार नातेदारी श्रम विभाजन को भी प्रोत्साहन देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। नातेदारी व्यवस्था समूह के सदस्यों में श्रम विभाजन के साथ–साथ सहयोग एवं उत्तरदायित्व की भावना भी जागृत करती है। इसलिए समाज में कार्य सुचारू रूप से क्रियान्वित होते रहते है। नातेदार दूर हो या पास अपने दायित्व को बखूबी निभाते रहते है।

नातेदारी के समाज के प्रति अनंत भूमिकाएं एवं महत्व है समाज को निरंतर एवं व्यस्थित बाये रखने में नातेदारी व्यवस्था अत्यंत आवश्यक है। नातेदारी सामाजिक व्यवस्था ही नहीं वरन सामाजिक प्रक्रिया को भी बनाये एवं गतिमान रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

नातेदारी के प्रकार

नातेदारी के मुख्य दो प्रकार हैः

1. **रक्त संबधी नातेदारीः** रक्त संबंधी नातेदारी समान रक्त के कारण एक–दूसरे से संबंधित होते है अर्थात् नातेदारी रक्त संबंधों पर आधारित होती है। एक परिवार में माता–पिता तथा उनके पुत्र–पुत्रियों में समान रक्त प्रवाहित होता है। माता–पिता का रिश्ता पति–पत्नि का ही नहीं होता वे प्राणीशास्त्रीय दृष्टि से भी संबंधित होते हैं। उनसे उत्पन्न होने वाले बच्चे उनके समान रक्त समूह से जुड़े होते है। भाई–बहन, पुत्र–पुत्री, पौत्र–पौत्री रक्त संबंधी नातेदार माने जाते है।

2. **विवाह संबंधी नातेदारः** पति–पत्नि में विवाह के कारण दोनो पक्षों से अनेक व्यक्ति सामाजिक संबंधों में आबद्ध हो जाते है। ये सभी व्यक्ति एक स्त्री और एक पुरूष के विवाह बंधनों के कारण नातेदार बन जाते हैं। जैसे विवाह के पूर्व एक पुरूष जो किसी का पुत्र या भाई था, विवाह के बाद वह किसी का दमाद, किसी का बहनोई, किसी का नंदोई तथा किसी का साढू बन जाता है। इसी प्रकार एक स्त्री विवाह के पूर्व एक पुत्री या बहन रहती है वह विवाह के पश्चात् भाभी, बहु, मामी, चाची बन जाती है। ये सभी विवाह संबंधी नातेदारी कहे जाते हैं।
3. **कल्पित नातेदारीः** इस व्यवस्था के अनुसार यदि पुत्र न होने पर कोई व्यक्ति किसी को गोद ले लेता है तो उस गोद लिए गये व्यक्ति के साथ होने वाला संबंध कल्पित नातेदारी कहलाती है। इस प्रकार की नातेदारी संबंध रक्तीय या वैवाहिकी न होकर सामाजिक श्रेणी का होता है।

नातेदारी की श्रेणिया

सभी नातेदारी संबंध समान रूप से घनिष्ट अथवा निकट नहीं होती है। हम अपने सभी रिश्तेदारो के साथ समान आत्मीयता एवं घनिष्ठता का अनुभव नहीं करते। वैयक्तिक भावनाओं के अलावा सामाजिक दृष्टि से सभी संबंधी समान स्तर पर नहीं समझे जाते। आत्मीयता, घनिष्ठता एवं निकटता के आधार पर नातेदारी को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

1. **प्राथमिक नातेदारीः** नातेदारी की इस श्रेणी के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते है जो प्रत्यक्ष संबंधों के आधार पर संबंधित होते है। अर्थात् प्राथमिक नातेदार वे व्यक्ति होते है जिनसे हमारा प्रत्यक्ष संबंध होता है। जिसके संबंध को प्रकट करने के लिए किसी माध्यम (नातेदारी आदि) की की जरूरत नहीं पड़ती है, जैसे पति–पत्नि, पिता–पुत्र, पिता–पुत्री, माता–पुत्र, माता–पुत्री, बहन–बहन, भाई–भाई, भाई–बहन

आदि। ये नाते परस्पर एक दूसरे से संबंधित होते है। मरडाक महोदय ने आठ प्राथमिक नातेदार माने है।

2. **द्वितीयक नातेदारीः** इसके अन्तर्गत वे नातेदार आते हैं, जो व्यक्ति की प्राथमिक श्रेणी संबंधों द्वारा संबंधित होते है। इससे व्यक्ति का प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता, किन्तु वे प्रथम श्रेणी के संबंधों से संबंधित होते हैं। जैसे दादा–दादी, चाचा–चाची, भतीजा–भतीजी, नाना–नानी, देवर–भाभी, मामा–मामी, साले–सालियाँ आदि। मरडाक महोदय ने हर व्यक्ति के 33 द्वितीय संबंधी माने है जिनसे हमारा प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता है।
3. **तृतीयक नातेदारीः** यह नातेदारी वह नातेदारी है, जो हमारे प्राथमिक संबंधियों के द्वितीयक संबंधी और द्वितीयक संबंधियों के प्राथमिक संबंधी होते हैं। नातेदारी की इस श्रेणी में विशिष्ट प्रकार के व्यवहार प्रतिमानों का निर्धारण होता है। इसके अन्तर्गत पितामह, साले की पत्नि एवं उसके पुत्र–पुत्री, मौसा, बुआ का लड़का, फूफा आदि रिश्ते आते हैं। मरडाक महोदय ने तृतीयक नातेदारी में संबंधियों की संख्या 133 बतायी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नातेदारी की तीन श्रेणियाँ है और इन तीनों श्रेणियों में अनगिनत प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष तथा कई माने गये रिश्तेदार गिने जाते है। रिश्तों के नाम में भी विभिन्नता है। जैसे पिता के भाई–बहन का संबंध एवं माता के भाई–बहन का संबंध अलग–अलग होता है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि जो रक्त संबंधी हैं तथा रक्त संबंधी नहीं हैं, एवं जो विवाह संबंधी हैं एवं विवाह संबंधी नहीं भी हैं, ये सभी हमारे नातेदारी के अन्तर्गत आते है। सभी के संबोधन शब्द भी भिन्न–भिन्न होते हैं। ये संबोधन शब्द धर्म, संस्कृति, परिस्थिति एवं भौगोलिकता के आधार पर सभी समाजो में भिन्न–भिन्न हो सकते हैं।

नातेदारी की रीतियाँ

नातेदारी के अन्तर्गत जब हमारा संबंध किसी व्यक्ति से बन जाता

है, तब उस संबंध में एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार भी पनपता है जो उस रिश्ते से ही संबंधित होता है। विभिन्न प्रकार के संबंधियों के प्रति हमारे व्यवहार भिन्न–भिन्न प्रकार के होते हैं। किसी के साथ हमारा संबंध श्रद्धा पर आधारित होता है, तो किसी के साथ आदर, प्रेम, मधुरता, मजाक या हँसी पर आधारित होता है। संतानों का माता–पिता के साथ श्रद्धा एवं सम्मान का संबंध होता है, तो पति–पत्नि के बीच प्रेम का, वहीं पर जीजा साली के मध्य मधुरता का संबंध होता है। हमारे समाज में दो संबंधियों के बीच किस प्रकार के व्यवहार होंगे इसके नियम बने होते हैं, जिन्हें हम नातेदारी के नियामक व्यवहार या नातेदारी की रीतियाँ कहते हैं, जो निम्न है।

1. **परिहार या विमुखताः** परिहार का अर्थ है सामाजिक दूरी अर्थात् कुछ संबंधी आपस में एक दूसरे से कुछ दूरी बनाये रखते है या एक दूसरे से दूरी बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इस रीति के अनुसार संबंधियो का नाम लेना वर्जित होता है। कभी–कभी तो वे संबंधी एक दूसरे को देख भी नहीं सकते, बातचीत भी नहीं कर सकते, आमने–सामने नहीं आ सकते। परिहार या विमुखता के संबंध विभिन्न संबंधों में देखने को मिलते है। कई समाजों में भाई–बहन परस्पर परिहार का पालन करते हैं। परिहार के संबंध में निम्न परिहार समाज में देखे जाते हैं।

1. जेठ एवं छोटे भाई की पत्नि के बीच परिहार।
2. स्त्री के पति का पत्नि की बड़ी बहन से परिहार।
3. ससुर पुत्रवधु परिहार।
4. सास दमाद परिहार।
5. सास बहु परिहार।
6. ससुर दमाद परिहार।

इसके अलावा भी विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार के विवाह एवं परिवार के स्वरूप होते हैं, वहां परिहार या विमुखता के प्रकार एवं स्वरूप भी भिन्न–भिन्न प्रकार के एवं भिन्न–भिन्न संबंधियों से देखने को मिलते है।

2. **परिहास या हँसी मजाक के संबंधः** परिहास संबंध परिहार से ठीक विपरीत है। परिहास में संबंधों में घनिष्ठता पाई जाती है। परिहास का शाब्दिक अर्थ भी हँसी–मजाक, स्वछन्दता तथा बराबरी के संबंध का परिचायक है। परिहास के अर्न्तगत दो रिश्तेदारों में परस्पर हँसी मजाक या मजाक में ही परेशान करना शामिल रहता है। परिहास में दोनों पक्ष सकारात्मक रूप से मजाक करते हैं। गलत या बुरा मानने वाले कम ही होते है। इस प्रकार के व्यवहार प्रायः विवाह संबंधियों के बीच पाये जाते है। ये संबंध मित्रता का प्रतीक माना जाता है। प्रायः परिहास निम्न संबंधों में पाये जाते है।

1. जीजा–साली परिहास।
2. देवर–भाभी परिहास।
3. ननंद–भाभी परिहास।
4. मामा–भाँजा परिहास।
5. दादी–पोता परिहास।
6. दादा–पोती परिहास।
7. चाचा–भतीजा परिहास।

विभिन्न जनजातियों में और भी विभिन्न प्रकार के परिहास देखने को मिलते हैं। इस प्रकार संबंधों में हँसी–मजाक होली या अन्य उत्सव एवं विवाह आदि अवसरों में अधिक होता है। सभी समाजों में परिहास किसी न किसी रूप में प्रचलन में है।

3. **माध्यमिक संबोधनः** नातेदारी की इस प्रकार की रीति में संबंध को पुकारने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को माध्यम बनाया जाता है। इसलिए इस रीति को माध्यमिक संबोधन कहा जाता है। यह प्रथा हिन्दु एवं खासी जनजातियों में पाई जाती है। इस प्रथा के अनुसार मामा अपने भाँजा–भाँजी के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते है। कुछ समाजो में भाँजा का नाम किसी माध्यम या संबोधन द्वारा लिया जाता है। कुछ समाज शास्त्री माध्यमिक संबोधन रीति को

मातृसत्तामक परिवार से मानते है। माध्यमिक संबोधन में किसी नाम के अलावा किसी प्रतीक का भी प्रयोग किया जाता है। उदाहरण स्वरूप एक पत्नि अपने पति को संबोधित करने के लिए अपने पुत्र या पुत्री के 'पिता' के रूप में संबोधित करती है या अपने देवर या ननंद के 'भैय्या' का संबोधन देती है।

4. **मातुलेयः** जनजातीय समाजो में मातुलेय नातेदारी एक विशेष रीति है, जिसका संबंध मुख्य रूप से मातृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था से है। इस रीति में बच्चों का अपने पिता से अधिक अपने मामा से संबंध होता है। इस रीति में मामा अपने भाँजे को अपनी सम्पति का उत्तराधिकारी बनाता है, इस रीति में बालक अपने पिता की अपेक्षा अपने मामा को आदर एवं महत्व अधिक देता है। ऐसा ही प्रशिक्षण उसे बचपन से ही दिया जाता है। होपी जनजाती में बालक जब विवाह के योग्य होता है, तब वह अपने पिता का घर छोड़कर अपने मामा के घर आ जाता है, और अपने मामा के परिवार का सदस्य बन जाता है।

5. **पितृ–भगिनीय अधिकारः** जिस प्रकार से मातुलेय रीति में मामा को महत्व दिया जाता है, उसी प्रकार पितृ–भगिनीय अधिकार में पिता की बहन को विशेष आदर एवं महत्व दिया जाता है। यह रीति पितृसत्तात्मक परिवार में देखी जाती है। पिता की बहन अर्थात् बुआ अपने भतीजे एवं भतीजियों के साथ विशिष्ट संबंध रखती है। हिन्दू समाज में विभिन्न संस्कार भी बुआ के द्वारा ही किए जाते हैं। नामकरण एवं विवाह में विभिन्न प्रकार के नेग बुआ के हाथो सम्पन्न कराए जाते हैं। इस रीति को पितृश्वश्रेय रीति भी कहते है। कुछ समाजशास्त्रियों का मानना है कि जिन संबंध में विवाह के बाद अंतः क्रिया शीथिल होने की संभावना रहती है उन्हें सतत् बनाये रखने के लिए इस रीति या प्रथा का प्रचलन शुरू हुआ होगा। अतः अपने जन्म स्थान से सम्पर्क बनाये रखने के लिए स्वयं पिता की बहन को विवाह के बाद भी आदर सम्मान देने के लिए इस प्रकार की रीति

का चलन शुरू हुआ है।

6. **सह–प्रसविता या सहकष्टी:** समाज में इस रीति का संबंध पत्नि के प्रसव काल से है। इसके अन्तर्गत जब पत्नि गर्भवती होती है तो पति को भी सभी निषेधों का पालन करना पड़ता है जिनका पालन उसकी गर्भवती पत्नि को करना पड़ता है। भारत के टोडा जनजातियों में इस रीति का प्रचलन है। इस रीति के अनुसार पति या पिता अपनी पत्नि या भावी संतान के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है। कुछ सामाजशास्त्रियों ने इस रीति को वैवाहिक संबंधों को अधिक दृढ़ बनाने और पैतृक प्रेम प्राप्त करने की एक सामाजिक क्रिया के रूप में माना है।

उपरोक्त नातेदारी की प्रचलित रीतियों से स्पष्ट होता है कि समाज में ये रीतियां वर्तमान में भी देखी जाती है। ये रीतियां संबंधों को मजबूत बनाने के साथ–साथ संबंधों को पीढ़ियों तक बनाए रखने का कार्य भी करती है। तभी तो हम नातेदारों को अपने जीवन में अधिक महत्व देते है। यह हमारी संस्कृति एवं परम्परा में भी शामिल है।

नातेदारी की विशेषताएँ

नातेदारी की विशेषताओं को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है:

1. नातेदारी के माध्यम से ही विवाह एवं परिवार का निर्धारण किया जाता है।
2. वंश उत्तराधिकारी तथा पदाधिकारी का निर्धारण भी नातेदारी के द्वारा ही किया जाता है।
3. नातेदारी ही हमारी आर्थिक हितों की सुरक्षा करती है।
4. नातेदारी से ही व्यक्ति को मानसिक संतोष प्राप्त होता है। उसे समाज एवं संसार में अपना कोई दिखाई देता है।
5. नातेदारी ही मानव शास्त्रीय ज्ञान का आधार स्तंभ है।
6. नातेदारी के द्वारा ही सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करना सिखाते है।
7. नातेदारी एक अमूर्त संख्या है जो प्रत्यक्ष न होकर भी व्यक्ति को अनेकों रिश्तों से बांधे रखती है।

8. नातेदारी परिस्थिति एवं भूमिकाओं की जटिल व्यवस्था है। जहाँ एक व्यक्ति को अनेकों प्रस्तिति प्राप्त होते है और अनेकों भूमिकाएं निभानी पड़ती है।
9. नातेदारी व्यवस्था के द्वारा ही संस्कृति का हस्तांतरण होता है।
10. नातेदारी व्यवस्था ही समाज में विभिन्न रिश्तों एवं उनके संबंधनों की जन्म स्थली है।

इस प्रकार हम पाते है कि नातेदारी सभी समाजों की एक स्थायी संरचना है। समाज में जिनके अधिक नातेदार होते है। उन्हें अधिक सम्मान प्राप्त होता है। यह माना गया है कि जिनके प्राथमिक नातेदार अधिक होंगे उनके द्वितीयक नातेदार भी अधिक होंगे, जिनका दोनों नातेदारों से संबंध घनिष्ठ होगा उनका तृतीयक नातेदारों से भी अच्छा संबंध होगा। नातेदार चाहें रक्त संबंधी हो या विचार संबंधी सभी का व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है। आदिम समाज एवं आधुनिक समाजों का प्रमुख आधार नातेदारी व्यवस्था ही रहा है। नातेदारी का संबंध विवाह एवं परिवार से भले ही है, किन्तु नातेदारी का संबंध निभाने से अधिक सुदृढ़ होता है। समाज में अपने अस्तित्व नातेदारी व्यवस्था के बैगर बनाये रखना असंभव है।

––==00==––

संस्कृति

भूमिका

संस्कृति मानव समाज की अमूल्य धरोहर है। संस्कृति ही मानव को एक सामाजिक प्राणी बनाने में मदद करती है। संस्कृति की सहायता से ही मानव पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता है। अपनी प्रगति की ओर उन्मुख होता है। मानव जिस संस्कृति में पलता है, उसी के अनुरूप उसका विकास भी होता है। पृथ्वी पर जितने भी समाज विद्यमान हैं, सभी की कोई ना कोई संस्कृति आवश्यक होती है। संस्कृति सभी समाज में भिन्न–भिन्न होती है। बिना संस्कृति के हम मानव समाज की कल्पना नहीं कर सकते हैं। संस्कृति के अभाव में मानव पशु तुल्य हो जाता है। संस्कृति समाज में स्वतः समय के साथ संचित एवं संरक्षित होती रहती है। दैनिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किसी समाज के लोग जिन तरीकों को अपनाते हैं, जिन उपकरणों को अपनाते हैं, चाहे वह भाषा, धर्म, रहन–सहन, आस्था, मूल्य, मानदंड, प्रथाएं, संबंध या फिर शिष्टाचार आदि हो, वह सभी संस्कृति के अंतर्गत समाहित हैं। कला, संगीत, विज्ञान के क्षेत्रों में मानव द्वारा की गई प्रगति को भी संस्कृति माना गया है। कुछ समाजशास्त्री एवं मानवशास्त्रीयों ने जीवन जीने के विभिन्न तरीकों को भी संस्कृति स्वीकार किया है, अर्थात् संस्कृति जीवन व्यतीत करने की संपूर्ण विधि है। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि संस्कृति उस विधि का प्रतीक है जिसके आधार पर हम सोचते हैं और कार्य करते हैं। संस्कृति एक प्रकार से मानव जनित मानसिक पर्यावरण से संबंध रखती है, जिसमें मनुष्य द्वारा प्राप्त आंतरिक एवं बाह्य व्यवहारों के तरीके समाहित हैं। यह कुछ प्रतीक चिन्हों द्वारा भी स्थानांतरित किए जा सकते हैं। संस्कृति हमारे जीने और सोचने की विधि में हमारी अंतस्थ प्रकृति की अभिव्यक्ति है। संस्कृति एक समाज से दूसरे समाज तथा एक देश से दूसरे देश में बदलती रहती है। जैसे अभिवादन एक संस्कृति है, किंतु उनके तरीकों की भिन्नता देखी जा सकती है। भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वाधिक प्राचीन

संस्कृति का अर्थ

संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समक्ष स्वरूपों का नाम है, जो उस समाज के सोचने विचारने एवं कार्य करने के स्वरूप में अंतरनिहीत होता है। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा से लिया गया है। संस्कृति शब्द संस्कार से बना है, जिसका अर्थ है कुछ कृतियों या अनुष्ठानों की पूर्ति करना। इस दृष्टि से संस्कृति का अर्थ होता है विभिन्न संस्कारों के द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति करना। संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है जो किसी भी समाज के सदस्यों की विशेषता है। संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक आदर्श विधि है जो शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूरी करती है। किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन यापन के विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं, उसे मुख्य तौर पर संस्कृति कहते हैं।

संस्कृति की परिभाषाएं

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई संस्कृति की परिभाषाएं निम्न है जो संस्कृति के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करती है।

पारसंस के अनुसार, ''संस्कृति मानव के व्यक्तित्व एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है।''

टायलर के शब्दों में, ''संस्कृति वह संपूर्ण जटिलता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, प्रथा तथा वे सभी क्षमताएं एवं गुण सम्मिलित हैं जिन्हें मानव समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।''

मजूमदार एवं मदान के अनुसार, 'लोगों की जीवन जीने का ढंग ही संस्कृति है।''

मैलिनोवस्की के अनुसार, ''संस्कृति मानव का कृत्य है तथा एक साधन है जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करता है।''

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि संस्कृति व्यवहार प्रतिमानों या समग्र जीवन विधि का मूल है जिसे सामाजिक सदस्य होने के नाते व्यक्ति

अपना कर सामूहिक जीवन व्यतीत करता है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

संस्कृति की विशेषताएं

संस्कृति की विशेषताओं को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है:

1. **संस्कृति सीखी जाती है:** संस्कृति मानव के सीखे हुए प्रतिमानों एवं व्यवहारों का योग है। संस्कृति को मनुष्य अपने जीवन में देखकर, क्रिया के द्वारा या वंशानुगत आधार पर सीखता है। कोई भी व्यक्ति संस्कारवान होकर जन्म नहीं लेता है, वह अपने समाज की संस्कृति को समाजीकरण के द्वारा सीखता है और आजीवन कुछ ना कुछ संस्कृति के तत्वों को सीखता ही रहता है।
2. **संस्कृति मानव निर्मित है:** संस्कृति केवल मानव समाज में ही पाई जाती है। मानव द्वारा किसी कृत्य को लगातार करते रहने से अगली पीढ़ी के लिए वह संस्कृति बन जाती है। मनुष्य की कुछ मानसिक एवं शारीरिक विशेषताएं जो एक समाज से दूसरे समाज को भिन्न बनाती है संस्कृति मानी जाती है।
3. **संस्कृति मानव समूह का आदर्श:** संस्कृति को समूह के लोग अपना आदर्श मानते हैं। उनके अनुसार अपने विचारों को ढालते हैं। जब कभी दो संस्कृतियों में तुलना की जाती है तो व्यक्ति अपने समूह की संस्कृति को उत्तम और आदर्श बनाने का प्रयास करता है। व्यक्ति को अपनी संस्कृति में अच्छाइयां अधिक नजर आती हैं।
4. **संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है:** मानव की अनेकों आवश्यकताएं होती है। समाजिक, शारीरिक, मानसिक, व्यवसायिक एवं परिवारिक। इसकी पूर्ति के लिए मानव ने संस्कृति का निर्माण किया है। हमारी संस्कृति हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, क्योंकि संस्कृति हमें अनुकूलन एवं समायोजन सिखाती है।
5. **हस्तांतरण शीलता के गुण:** संस्कृति में हस्तांतरण के गुण होते

हैं, तभी हमारी संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होती है। पुरानी पीढ़ी के द्वारा संस्कृति के मूल तत्व को नई पीढ़ी को बताया सिखाया जाता है। नई पीढ़ी द्वारा अपनी आने वाली पीढ़ी को संस्कृति के मूल तत्व को बताया सिखाया जाता है। इस प्रकार हमारी संस्कृति लगातार हस्तांतरित होती रहती है।

6. **संस्कृति सार्वभौमिक होती हैः** संस्कृतिक सार्वभौमिक होती है, क्योंकि संस्कृति प्रत्येक काल, देश, युग एवं प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। संस्कृति को हम सर्वकालिक भी मान सकते हैं। जब से समाज का जन्म हुआ है तब से संस्कृति व्यक्ति द्वारा स्वीकार की जा रही है।

7. **संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती हैः** संस्कृति में समय, स्थान, देश, काल एवं समाज और समाज की विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल अपने आप को ढालने की क्षमता होती है। सभी कालों में संस्कृति अनुकूलन स्थापित कर लेती है। परिवर्तनशीलता का गुण संस्कृति में पाया जाता है।

8. **प्रत्येक समाज की विशिष्ट संस्कृतिः** प्रत्येक समाज की संस्कृति भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण एक–दूसरे से भिन्न होती है। सभी समाजों की एक विशिष्ट संस्कृति होती है जो उस समाज की पहचान एवं विशेषता मानी जाती है। प्रत्येक समाज की आवश्यकताएं ही सांस्कृतिक विभिन्नता को जन्म देती है। यही कारण है कि हमें नगरीय, ग्रामीण, आदिम जाति, विभिन्न जातियां एवं विभिन्न धर्मों की अलग–अलग संस्कृतियों देखने को मिलती हैं।

9. **संस्कृति का मुख्य वाहक भाषाः** संस्कृति का मुख्य वाहक या संचालक भाषा होती है। भाषा के अभाव में हम संस्कृति को ना तो सीख पाते हैं ना ही हस्तांतरित कर पाएंगे। भाषा ही संस्कृति को नाम एवं पहचान देती है। हर भाषा में संस्कृति का स्वरूप विद्यमान रहता है।

10. **संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है:** संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की देन नहीं होती है। संस्कृति संपूर्ण समाज की देन होती है। संस्कृति का विकास समाज के हित के लिए ही हुआ है। संस्कृति एवं समाज एक सिक्के के दो पहलू हैं। समाज के अभाव में संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती है। संस्कृति संपूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करती है। समाज की जीवन विधि का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए संस्कृति में सामाजिकता के गुण निहित होते हैं।

11. **संस्कृति में संतुलन एवं संगठन होता है:** संस्कृति का निर्माण विभिन्न इकाइयों से मिलकर होता है। सांस्कृतिक इकाइयां आपस में एक दूसरे से बंधी हुई होती है। सभी इकाइयां संगठित रूप से मिलकर ही संपूर्ण संस्कृति की व्यवस्था संतुलन को बनाए रखती है। एक इकाई में यदि कुछ गड़बड़ी होती है तो संपूर्ण संस्कृति प्रभावित हो जाती है, इसलिए संस्कृति सभी इकाइयों के साथ परस्पर संतुलन बना कर रखती है।

12. **संस्कृति मानव व्यक्तित्व का निर्माण करती है:** जिस समाज की संस्कृति जैसी होती है उस समाज के व्यक्ति का व्यक्तित्व भी वैसा ही होता है। व्यक्ति के सोचने–विचारने की क्षमता को संस्कृति दिशा प्रदान करती है। संस्कृति ही मानव व्यक्तित्व के विकास की मूल आवश्यकता है। जन्म के बाद व्यक्ति वही सीखता है जो अपने आसपास देखता है। यही पर्यावरण संस्कृति का निर्माण करती है और व्यक्ति का मानसिक विकास उसके सांस्कृतिक पर्यावरण से होता है।

13. **संस्कृति संचयी होती है:** संस्कृति में शामिल विभिन्न ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होते रहते हैं। जैसे–जैसे समय बीतता जाता है अधिक से अधिक ज्ञान उस संस्कृति में जुड़ता चला जाता है। यह ज्ञान संस्कृति में मिलकर जीवन की परेशानियों के समाधान के रूप में कार्य करता है। संस्कृति को ज्ञान

के साथ संचय करके रखकर मानव अपनी जीवनशैली में सुधार करता है।

संस्कृति के प्रकार

संस्कृति को दो भागों में बांटा गया हैः भौतिक संस्कृति एवं अभौतिक संस्कृति।

1. **भौतिक संस्कृतिः** भौतिक संस्कृति के अंतर्गत वस्तुओं का समावेश होता है, जिनका निर्माण मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया है। मनुष्य ने विभिन्न प्राकृतिदत्त वस्तुओं एवं शक्तियों को परिवर्तित करके अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया है। ये सभी भौतिक संस्कृति के अंतर्गत आते हैं, जिन्हें हम देखते हैं, स्पर्श कर सकते हैं और आभास कर सकते हैं। भौतिक संस्कृति में हम घड़ी, पेन, पंखा, मोटर, मशीन, औजार, वस्त्र, रेल, जहाज, फोन आदि अनेक वस्तुओं को शामिल कर सकते हैं जो मानव द्वारा निर्मित एवं मानव की आवश्यकता के अनुरूप निर्मित किया गया है। समय एवं आवश्यकता के अनुसार अनेकों वस्तुओं एवं यंत्रों का निर्माण लगातार किया जा रहा है। भौतिक संस्कृति के सभी तत्वों को गिनना सरल नहीं है क्योंकि भौतिक संस्कृति निर्माण की कोई समय सीमा निर्धारित नहीं है।

भौतिक संस्कृति की विशेषताएं

1. भौतिक संस्कृति मूर्त होती है।
2. भौतिक संस्कृति में निरंतर वृद्धि होती रहती है।
3. भौतिक संस्कृति को मापा जा सकता है।
4. भौतिक संस्कृति में परिवर्तन अतिशीघ्र होता है।
5. भौतिक संस्कृति की उपयोगिता एवं लाभ का मूल्यांकन किया जा सकता है।
6. भौतिक संस्कृति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने एवं इसे स्वीकार करने में इसके स्वरूप पर कोई फर्क नहीं पड़ता है।

7. भौतिक संस्कृति आदिम समाज की तुलना में आधुनिक समाज में अधिक पाई जाती है।

2. **अभौतिक संस्कृतिः** इसके अंतर्गत उन सभी अभौतिक एवं अमूर्त वस्तुओं का समावेश होता है जिसका कोई माप–तोल, आकार, रंग आदि नहीं होता है। अभौतिक संस्कृति को हम छू नहीं सकते, मात्र अनुभव कर सकते हैं। जैसे आचार–विचार, विश्वास, परंपराएं, प्रथाएं, रीति–रिवाज, व्यवहार, मूल्य, मानदंड, नैतिकता आदि। अभौतिक संस्कृति समाजीकरण एवं सीखने की प्रक्रिया द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। अभौतिक संस्कृति विचारों एवं विश्वासों के माध्यम से मानव व्यवहार को नियंत्रित, नियमित एवं प्रभावित करती है।

अभौतिक संस्कृति की विशेषताएं

1. अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है।
2. अभौतिक संस्कृति को मापना कठिन होता है।
3. अभौतिक संस्कृति जटिल होती है।
4. अभौतिक संस्कृति की उपयोगिता एवं लाभ का मूल्यांकन करना कठिन कार्य है।
5. अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत ही धीमी गति से होता है।
6. अभौतिक संस्कृति को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने या ग्रहण करने से थोड़ा ना थोड़ा परिवर्तन अवश्य होता है।
7. अभौतिक संस्कृति मनुष्य की आध्यात्मिक एवं आंतरिक जीवन से संबंधित होती है।
8. सभी समाजों में अभौतिक संस्कृति भिन्न–भिन्न होती है।
9. अभौतिक संस्कृति मनुष्य के व्यवहार, विचार एवं मनुष्य के अपनाए गए मूल्यों से परिलक्षित होती है।

भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अंतर

भौतिक एवं अभौतिक पक्षों के योग से ही संस्कृति का निर्माण होता

है, किंतु दोनों में कुछ अंतर है जो निम्न हैः

1. भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहा जाता है, परंतु अभौतिक संस्कृति को मात्र संस्कृति के नाम से ही जाना जाता है।
2. भौतिक संस्कृति मूर्त होती है, मगर अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है।
3. अभौतिक संस्कृति की तुलना में भौतिक संस्कृति को ग्रहण करना सरल है।
4. भौतिक संस्कृति को किसी भी अन्य स्थान पर ग्रहण किया जा सकता है, किंतु अभौतिक संस्कृति को दूसरे स्थान पर स्वीकार करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।
5. भौतिक संस्कृति की तुलना भी अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन धीमी गति से होता है।
6. भौतिक संस्कृति को मापा जा सकता है, किंतु अभौतिक संस्कृति को मापना संभव नहीं है।
7. भैतिक संस्कृति में वृद्धि तीव्र गति से होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति में वृद्धि बहुत ही मंद गति से होती है।
8. भौतिक संस्कृति में लाभ एवं उपयोगिता को माप कर बताया जा सकता है, किंतु अभौतिक संस्कृति में उपयोगिता का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता इसे मात्र अनुभव किया जा सकता है।
9. भौतिक संस्कृति मानव के बाह्य जीवन से संबंधित होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति मानव के आध्यात्मिक एवं आंतरिक जीवन से संबंधित होती है।
10. भौतिक संस्कृति का स्वरूप सरल एवं अभौतिक संस्कृति का स्वरूप जटिल होता है।
11. भौतिक संस्कृति के निर्माण में समय कम एवं अभौतिक संस्कृति के निर्माण में समय अधिक या पीढ़ियाँ लग जाती है।
12. भौतिक संस्कृति को एक साथ बहुत से लोग उपयोग कर सकते हैं,

मगर अभौतिक संस्कृति को एक साथ अधिक लोग उपयोग नहीं कर सकते।

भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में विभिन्न भिन्नताएँ हैं, किंतु दोनों में आत्मनिर्भरता पाई जाती है। जब एक संस्कृति में परिवर्तन आता है तो वह दूसरी संस्कृति को भी प्रभावित करती है। अर्थात् एक में विकास होने पर दूसरे में भी विकास होना अनिवार्य हो जाता है। वर्तमान समाज में दोनों संस्कृतियों का समान महत्व है, दोनों की आवश्यकता भी समान है।

संस्कृति का महत्व

संस्कृति का सामाजिक जीवन में विशेष महत्व है। प्रत्येक समाज की कोई ना कोई संस्कृति होती है जो समाज को सुव्यवस्थित करती है। इस दृष्टि से समाज के महत्व को निम्न बंधुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है:

1. संस्कृति मानव की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, जिसके लिए समय–समय पर अनेक आविष्कार होते रहे हैं और वे सभी संस्कृति के अंग बनते गए हैं।
2. संस्कृति व्यक्ति के व्यवहारों में एकरूपता लाती है। रीति–रिवाजों, प्रथाओं, मूल्यों, आदर्शों एवं नैतिकता में समानता का होना व्यक्ति के व्यवहार में भी समानता लाता है।
3. संस्कृति मानव की आदतों का निर्धारण करती है, चूँकि व्यक्ति किसी न किसी संस्कृति में ही जन्म लेता है और उस संस्कृति के खान–पान वेशभूषा से संबंधित आदतों का निर्धारण कर उसी अनुरूप आदतों का निर्माण करता है।
4. संस्कृति मनुष्य के अनुभव एवं कार्य कुशलता को बढ़ाती है। नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी का अनुभव एवं कौशल प्राप्त होता है जिससे कार्य कुशलता में वृद्धि होती है।
5. संस्कृति मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण में मदद करती है। प्रत्येक व्यक्ति का पालन पोषण उसके सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुकूल होता है और यही पर्यावरण व्यक्तित्व का निर्माण कर व्यक्ति

को विचारवान बनाता है।

6. संस्कृति नैतिकता का निर्धारण कर व्यक्ति को नैतिक गुणों से संपन्न बनाती है। उचित एवं अनुचित का भेद हमें हमारी संस्कृति ही कराती है।
7. संस्कृति व्यक्ति की समस्याओं का समाधान भी करती है। संस्कृति से प्राप्त अनुभव एवं कार्यकुशलता व्यक्ति को विभिन्न समस्याओं से निपटने में मदद करते हैं।
8. संस्कृति व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करती है। मानव व्यवहार के सभी पक्ष संस्कृति के द्वारा पहले से ही निर्धारित होते हैं और यही व्यवहार व्यक्ति को मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हैं।
9. संस्कृति समाज को नियंत्रित करके सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। व्यक्ति को पूर्व ही यह ज्ञात होता है कि क्या समाज के लिए उचित है और क्या अनुचित है, किसे करने से प्रशंसा प्राप्त होगी और किसे करने से दंड प्राप्त हो सकता है। संस्कृति समाज में प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण करती है। व्यक्ति अपने समाज में कौन सा पद कब और कहां से प्राप्त कर सकता है, यह संस्कृति ही निर्धारित करती है। कौन सी भूमिका कब निभानी है, यह भी संस्कृति सुनिश्चित करती है।

अतः संस्कृति जीवन की एक विधि है। संस्कृति जीवन से अति निकट से जुड़ी हुई है, अर्थात् संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र स्वरूप का नाम है, जो समाज को सोचने, विचारने, कार्य करने के स्वरूप में अंतर्निहीत होता है। जो भोजन हम खाते हैं, जो कपड़ा हम पहनते हैं, जो भाषा बोलते हैं और जिसकी पूजा हम करते हैं यह सभी संस्कृति की देन है। इस प्रकार संस्कृति मानव जनित मानसिक पर्यावरण से संबंध रखती है। भौतिक संस्कृति व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और अभौतिक संस्कृति व्यक्ति को विचारों से परिपूर्ण करती है।

––==00==––

समाजीकरण

भूमिका

अपने जन्म के समय बालक एक मनोशारीरिक प्राणी होता है, ना ही वह सामाजिक होता है और ना ही असामाजिक, लेकिन धीरे–धीरे वह सीख कर या देखकर या अनुकरण करके अपने सामाजिक वातावरण से परिचित होता है। उसमें सामाजिक चेतना एवं सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है। वह समाज में प्रचलित परंपराओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं, मूल्यों, आदर्शों और संस्कृति का अनुपालन करने लगता है और उनके प्रभाव में आकर उनके अनुसार व्यवहार करने लगता है, यही समाजीकरण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मुख्य समाज के विभिन्न व्यवहार, रीति–रिवाज, गतिविधियां इत्यादि सीखता है। समाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक रुप से क्रियाशील बनाता है। समाजीकरण में सीखे गए सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य देशकाल सापेक्ष होते हैं, इसलिए समाजीकरण की प्रक्रिया भी देशकाल सापेक्ष होती है।

समाजीकरण एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक जैविक प्राणी में सामाजिक गुणों का विकास होता है और वह सामाजिक प्राणी बनता है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज और संस्कृति के बीच रहकर विभिन्न साधनों के माध्यम से सामाजिक गुणों को सीखता है। समाजीकरण के द्वारा संस्कृति, सभ्यता तथा अन्य विशेषताएं पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती है एवं जीवित रहती है। समाजीकरण की प्रक्रिया जीवन पर्यंत चलती रहती है। व्यक्ति हर आयु वर्ग में कुछ न कुछ सीखता ही रहता है।

समाजीकरण का अर्थ

किसी नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाने में जो जो प्रक्रियाएं मदद करती है, यह सभी समाजीकरण कहलाती है। समाजीकरण कुछ सामाजिक क्रियाओं से भी आबद्ध है जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक,

सांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है। इस अर्थ में समाजीकरण एक विधि है जो व्यक्ति को जीने योग्य बनाने में आने वाली क्रियाओं से अवगत भी करती है और सीखने में मदद भी करती है। व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों, जनरीतियों, लोकाचारों, आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। सरल शब्दों में कहें तो समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा बचपन से ही एक व्यक्ति समाज के प्रतिमानों को अपनाने की कोशिश करता है।

समाजीकरण की परिभाषा

समाजीकरण का अर्थ निम्न परिभाषा से स्पष्ट हो जाएगाः

फीचर के शब्दों में, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों को स्वीकार करता है और उसके साथ अनुकूलन करता है।''

किम्बाल यंग के अनुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है।''

जॉनसन के अनुसार, ''समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिका का निर्वाह करने के योग्य बनाती है।''

पारसंस के अनुसार, ''व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखने एवं आंतरिकरण करने की प्रक्रिया ही समाजीकरण कहलाती है।''

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समूह अथवा समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और समाज का सक्रिय सदस्य बनता है। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदंडों को सीखता है और समाज के साथ अपना अनुकूलन स्थापित करता है। सामाजिक व्यवहार को सीखने में एवं समाज के अनुकूल व्यवहार करने में समाजीकरण की मुख्य भूमिका रहती है।

समाजीकरण की विशेषताएं

समाजीकरण की निम्नलिखित विशेषताएं हैः

1. **समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया हैः** समाजीकरण सीखने की एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसके द्वारा व्यक्ति समाज में संस्कृति, आदर्श, मूल्य एवं परंपरा के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है। चलना, बोलना, खाना, पढ़ना आदि क्रियाएं व्यक्ति समाज में सीखता है। समाज में सभी प्रकार की क्रियाओं को सीखना एवं उसी के अनुरूप व्यवहार करना समाजीकरण होता है, परंतु वही बातें समाजीकरण के दायरे में आती है जिससे समाज का हित होता है। यदि व्यक्ति उन बातों को सीखता है जो समाज को हानि या नुकसान पहुंचाए तो वह समाजीकरण के अंतर्गत नहीं आता है, जैसे झूठ बोलना, चोरी करना आदि। इन क्रियाओं को सीखना समाजीकरण नहीं कहलाता है।
2. **समाजीकरण एक निरंतर प्रक्रिया हैः** समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत चलती रहती है। व्यक्ति अपने संपूर्ण जीवन काल में कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। व्यक्ति अनेक प्रस्थितियां धारण करता है और उनके अनुसार भूमिका निर्वाह करना सीखता है। समाज में व्यक्ति को अनेकों परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है उस परिस्थिति से संबंधित व्यवहार को सीखना पड़ता है जिससे वह विभिन्न परिस्थितियों का सामना कर सके। समाज में विभिन्न संस्थाएं होती है, प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न संस्थाओं का सदस्य होता है और उन्हें उन संस्थाओं के मूल्यों एवं प्रतिमानों को ग्रहण करना आवश्यक होता है। इस प्रकार समाजीकरण एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।
3. **समय एवं स्थान सापेक्ष प्रक्रियाः** समाजीकरण की प्रक्रिया समय एवं स्थान सापेक्ष है। जो व्यवहार एक समाज में मान्य है किसी दूसरे समाज में अमान्य हो सकते हैं। समय सापेक्ष का अर्थ है एक समाज में दो भिन्न कालों में समाजीकरण की विषय वस्तु अलग–अलग

हो सकती है। जैसे नववधूओं का पर्दा करना कुछ समाजों में मान्य है तो कुछ समाजों में अमान्य है। परंपरागत रूप में देखें तो कुछ व्यवहार एवं क्रियाएं आधुनिकता के समय में परिवर्तित हो चुकी है। समय के साथ समाजीकरण की प्रक्रिया में भी बदलाव आता है। प्राचीन काल में चरण स्पर्श अभिवादन की एक कृति थी, स्वागत करने का वर्तमान में हाथ मिलाना चलन में आ गया है।

4. **संस्कृति का हस्तांतरणः** व्यक्ति अपनी संस्कृति मुख्यतया अपने परिवार से सीखता है। परिवार के नए सदस्य को अपने परिवार के रीति–रिवाजों के बारे में सिखाता एवं बताता है। इस प्रकार से संस्कृति का हस्तांतरण समाजीकरण के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को होता है। समाजीकरण के द्वारा ही हम अपनी संस्कृति एवं प्रतिमानों को जीवित रखते हैं।

5. **समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनने की प्रक्रियाः** समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्य में भाग लेने के योग्य बनता है। समाजीकरण के द्वारा ही वह प्राणीशास्त्री प्राणी से सामाजिक प्राणी बनता है। पद–प्रस्थिति के अनुसार भूमिका निर्वाह करना सीखता है। समाज के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाओं के अनुसार व्यवहार करने लगता है। समाज के विभिन्न कार्यों में सक्रिय भूमिका निभाता है। समाजीकरण के अभाव में व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य नहीं बन सकता।

6. **आत्मसात की प्रक्रियाः** समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा एक व्यक्ति अपने समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, प्रतिमानों तथा स्वीकृत व्यवहारों को आत्मसात करता है। यह सब उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। व्यक्ति अपनी संस्कृति के मूल तत्व को आत्मसात करता है। भौतिक संस्कृति का उपयोग करता है, किंतु अभौतिक संस्कृति को आत्मसात करता है। अभौजिक संस्कृति मनुष्य को भौतिक संस्कृति के उपयोग के तरीकों को सिखाती हैं, जो समाज के व्यवहार के अनुकूल हो।

7. **स्वयं का विकासः** समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति में स्वयं के प्रति चेतना तथा जागरूकता का विकास होता है। समाज के अन्य सदस्यों से उसके संबंध एवं व्यवहार का वह स्वयं मूल्यांकन करता है। ज्ञान का विकास करता है एवं स्व का मूल्यांकन दूसरे व्यक्तियों की दृष्टि से करना सीखता है। जो उसे पसंद ना हो वह दूसरे के लिए भी करने की चेष्टा नहीं करेगा। स्व का विकास ही व्यक्ति को विचारवांन बनाता है।

8. **अनुकरण से प्रभावितः** समाजीकरण की प्रक्रिया में अनुकरण का विशेष महत्व है। बालक अपने परिवार, पड़ोस, खेल के साथियों, विद्यालय तथा दूसरे संगठनों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों रूपों से दूसरे लोगों के व्यवहार का अनुकरण करता है। इस प्रकार बहुत से सामाजिक व्यवहार एवं गुणों को सीखता है, जो समाजीकरण की प्रक्रिया को सरल बना देते हैं।

9. **आजीवन प्रक्रियाः** समाजीकरण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। जीवन में कभी भी ऐसा समय नहीं आता जब उसको सीखने की आवश्यकता ना हो या सीखने के लिए उसके पास कुछ ना हो। व्यक्ति के जीवन काल में समाजीकरण की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती।

10. **अनुकूलनशीलता के गुणः** समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही बालक में अनुकूलन की क्षमता का विकास होता है। परिवार के अन्य सदस्यों के साथ तारतम्य स्थापित करने में अनुकूलनशीलता के गुण मुख्य भूमिका निभाते हैं। बालक विद्यालय जाता है तो नए लोगों से समायोजन करने में अनुकूलनशीलता ही उसे नए लोगों के बीच स्थापित करने में मदद करती है। जब सामाजिक संपर्क का दायरा विस्तृत हो जाता है तब समाजीकरण की प्रक्रिया में नई दिशा प्रदान करने के लिए अनुकूलनशीलता के गुण बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं। यह गुण व्यक्ति को सभी लोगों के बीच एवं सभी स्थानों में स्थापित करने के लिए सहयोग प्रदान करते हैं।

समाजीकरण के उद्देश्य

समाजीकरण के मुख्यतया 4 उद्देश्यों का उल्लेख विद्वानों द्वारा किया गया है जो निम्न हैः

1. **आधारभूत नियमबद्धताः** समाजीकरण सुचारू रूप से चलता रहे इस कारण समाज में अनुशासन एवं नियमबद्धता का होना अति आवश्यक है। समाजीकरण का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति में अनुशासन एवं नियमबद्धता उत्पन्न करना है। यही व्यक्ति को समाज के अनुकूल व्यवहार एवं कार्य करने के लिए बाध्य करता है और समाज द्वारा निश्चित किए गए प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं का निर्वाह करता है।
2. **इच्छाओं की पूर्तिः** समाजीकरण नियमबद्धता के अंतर्गत व्यक्ति की इच्छाओं की भी पूर्ति करता है। समाजीकरण में पुरस्कार एवं दंड दोनों ही इच्छाओं का निर्धारण करने में सहायक होते हैं। व्यक्ति को यह ज्ञात होता है कि कौन सी इच्छा पुरस्कार दिला सकती है और कौन सा दंड। सही समाजीकरण व्यक्ति की प्रत्येक इच्छाओं को समाज में पूर्ण करने में मदद करता है।
3. **सामाजिक भूमिका का निर्वाहः** व्यक्ति समाज में अनेक पद प्राप्त करता है एवं अनेक व्यक्तियों के संपर्क में आता है। प्रत्येक पद तथा व्यक्ति के संदर्भ में विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करने की अपेक्षा की जाती है। समाजीकरण के द्वारा वह विभिन्न भूमिकाओं का निर्वाह करना सीखता है।
4. **क्षमता का विकासः** समाजीकरण व्यक्ति में ऐसी क्षमताओं का विकास करता है जिससे वह सामाजिक परिस्थितियों के साथ सफलतापूर्वक अनुकूलन स्थापित कर सके। समय के साथ–साथ दायित्वों में भी वृद्धि होती है, जिसे निभाने के लिए क्षमता का विकास होना अनिवार्य होता है। समाजीकरण व्यक्ति में इसी क्षमता का विकास करता है।

समाजीकरण के अभिकरण

मानव में समाजीकरण की प्रक्रिया बड़ी लंबी एवं जटिल है। इस कार्य में अनेक संस्थाओं एवं समूहों का योगदान होता है, जिसे समाजीकरण के अभिकरण कहते हैं। समाजीकरण के अभिकरण को दो भागों में विभक्त किया गया है – प्राथमिक संस्थाएं एवं द्वितीयक संस्थाएं।

प्राथमिक संस्थाएं

प्राथमिक संस्थाएं वे हैं जहां बालक के प्रारंभिक स्तर का समाजीकरण होता है, जिसमें उसके मूलभूत व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यह संस्थाएं निम्न हैः

1. **परिवारः** समाजीकरण करने वाली संस्थाओं में परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है, क्योंकि बालक परिवार में ही जन्म लेता है और सर्वप्रथम परिवार के सदस्यों के संपर्क में आता है। परिवार ही उसे रीति–रिवाज, संस्कृति, धर्म, संस्कार एवं संबंधों के बारे में बताता है। परिवार का व्यवहार एवं क्रियाएं बालक के समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परिवार एक सार्वभौमिक संस्थाएं इसलिए बालक का सर्वप्रथम समाजीकरण परिवार के अनुरूप ही होता है।
2. **मित्र मंडलीः** परिवार के बाद बालक अपने मित्रों के संपर्क में आता है, जहां उसका समाजीकरण हम उम्र लोगों के साथ होता है। वह अपने साथियों के साथ विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को सीखता है। मित्रों के साथ खेल के नियम, अनुशासन, नेतृत्व के गुण एवं अन्य साथियों के साथ अनुकूलन करना सीखता है। मित्रों के साथ परस्पर सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, सहकारिता आदि के गुणों को सीखता है। मित्रों के मध्य निर्णय लेना सीखता है जिससे उसमें निर्णय क्षमता का विकास होता है।
3. **पड़ोसः** पड़ोस का भी बच्चे के समाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान होता है। बच्चे ही नहीं वरन युवकों के समाजीकरण में भी पड़ोस का विशेष योगदान होता है। पड़ोस के लोग बच्चों को स्नेह एवं

प्यार में कई नहीं बातों का ज्ञान कराते हैं। उसकी प्रशंसा एवं निंदा द्वारा उसे समाज के व्यवहार के लिए प्रेरित करते हैं। पड़ोसी समय–समय पर उसे यह बताते हैं कि कब किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। बच्चे अनजाने में ही पड़ोसी से कई बातें सीख जाते हैं। बच्चों पर पड़ोस का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

4. **नातेदारी समूहः** नातेदारी समूह में रक्त एवं विवाह से संबंधित सभी रिश्तेदार आ जाते हैं। इन सभी के संपर्क में व्यक्ति कुछ न कुछ सीखता है। इन सभी के प्रति भिन्न–भिन्न प्रकार की भूमिकाएं निभानी होती है। सभी के विभिन्न व्यवहार प्रतिमानों को हम सीखते हैं। विभिन्न रिश्तेदार भी बच्चों पर अलग–अलग प्रभाव डालते हैं।
5. **विवाहः** विवाह भी समाजीकरण की एक प्रमुख संस्था है। विवाह के बाद अनेकों प्रस्थिति एवं भूमिकाएं प्राप्त होती है। सफल वैवाहिक जीवन के लिए उनका अनुकूलन आवश्यक है जिसे समाजीकरण के द्वारा सीखा जाता है। नए दायित्व के निर्वहन करने के लिए अनेकों व्यवहार सीखे जाते हैं, जो निष्ठा एवं परस्पर विश्वास को बनाए रखने में मदद करती है।

द्वितीयक संस्थाएं

द्वितायक संस्थाएं किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्मित की जाती है। इनकी भी समाजीकरण में मुख्य भूमिका रहती है। द्वितायक संस्थाएं है निम्न हैः

1. **शिक्षण संस्थाएंः** शिक्षण संस्थाएं हमें समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाती है। स्कूल, कॉलेज एवं विश्वविद्यालय आदि सभी को इस संस्था के अंतर्गत गिना जाता है, जहां बालक का सामाजिकरण होता है। शिक्षण संस्थाओं में बालक शिक्षक, सहपाठी एवं विभिन्न सहगामी क्रियाओं के द्वारा अनेक बातें सीखता है। पुस्तकों एवं साहित्य में वह नवीन ज्ञान अर्जित करता है। समाज एवं संस्कृति

के बारे में ज्ञान प्राप्त कर अपने व्यक्तित्व एवं व्यवहार में सकारात्मक रूप लाता है।

2. **राजनीतिक संस्थाएं:** राजनीतिक संस्थाएं व्यक्ति को शासन, कानून, अनुशासन आदि सिखाती है। बालक का राजनीतिक सामाजिककरण इसी संस्था के द्वारा होता है। उसे अपने अधिकार एवं कर्तव्य का बोध होता है। तानाशाही एवं प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था की जानकारी होती है। कल्याणकारी राज्य में सरकार लोगों की भलाई, शिक्षा एवं कल्याण के लिए अनेक कार्य करती है। इन सभी की जानकारी इस संस्था द्वारा प्राप्त होती है।
3. **आर्थिक संस्थाएं:** आर्थिक संस्थाएं व्यक्ति को जीवन यापन के लिए समर्थ बनाती है। इस संस्था के द्वारा व्यक्ति बाजार, बैंक, दुकान आदि में किस प्रकार का व्यवहार करें, विभिन्न व्यवसायिक संघों से किस प्रकार कार्य करना चाहिए इत्यादि सीखता है। यह संस्था व्यक्ति में सहयोग, प्रतिस्पर्धा एवं समायोजन के भाव उत्पन्न करती है जिससे आर्थिक सामाजिकरण संभव होता है।
4. **धार्मिक संस्थाएं:** व्यक्ति के जीवन में धर्म का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। धार्मिक संस्थाएं हमें ईश्वर के बोध से अवगत कराती है। व्यक्ति में पवित्रता, अध्यात्म, भक्ति, श्रद्धा, दया, ईमानदारी, एवं सहयोग की भावना धार्मिक संस्थाएं ही सिखाती है पाप–पुण्य एवं स्वर्ग–नर्क की धारणा भी लोगों को सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करने पर बल देती है। ईश्वर एवं धर्म का भय ही व्यक्ति को नैतिक आचरण के लिए प्रेरित करता है और व्यक्ति समाज के अनुकूल व्यवहार करना सीखता है।
5. **सांस्कृतिक संस्थाएं:** सांस्कृतिक संस्थाएं व्यक्ति को समाज की संस्कृति से परिचित कराती है। विद्यालयों में, गांव में, नगरों में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक आयोजन होते रहते हैं जिसे देखकर एवं भाग लेकर व्यक्ति अपनी संस्कृति से अवगत होता है। यह संस्था व्यक्ति को अपनी रहन–सहन, खान–पान, वेशभूषा, साहित्य,

कला, भाषा आदि से परिचित कराती है। यह संस्थाएं व्यक्ति के समाजीकरण के साथ–साथ व्यक्तित्व विकास में भी योगदान देती है।

6. **व्यवसाय समूहः** जिस व्यवसाय में व्यक्ति लगा होता है उसके मूल्यों को भी ग्रहण करता है। वह व्यवसाय के दौरान अनेक लोगों के संपर्क में आता है। उन सभी से व्यवहार के तरीके सीखता है। प्रशासनिक संगठन से परिचित होता है। अपने साथ काम करने वाले अपने ऊपर एवं नीचे कर्मचारी से व्यवहार करना यही संस्था सिखाती है।

इन सभी संस्थाओं के अतिरिक्त व्यक्ति के किसी अजनबी के संपर्क में आने पर भी उससे एक विशिष्ट प्रकार से व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती है। भारत में व्यक्ति जाति समूह से भी कई बातें सीखता है। व्यक्ति के समाजीकरण में कई बातों का योगदान रहता है। सामाजिक–सांस्कृतिक पर्यावरण भी समाजीकरण कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

समाजीकरण के स्तर या सोपान

समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बहुत ही लंबी होती है। विभिन्न समाजशास्त्रीयों एवं मनोवैज्ञानिकों ने समाजीकरण को कई स्तरों में विभाजित करने का प्रयास किया है। सीखने का कार्य केवल समाज में ही संभव है। यहाँ हम समाजीकरण के विभिन्न स्तर या सोपानों का उल्लेख करेंगे।

1. **मौखिक अवस्थाः** समाजीकरण की यह अवस्था गर्भावस्था से ही आरंभ हो जाती है। जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है जिसमें उसे सांस लेनी होती है। पेट भरने के लिए श्रम करना होता है, जैसे – रोना, हाथ पैर हिलाना आदि। समाजीकरण का यह प्रथम चरण है जिसमें बच्चा मौखिक रूप से दूसरों पर निर्भर रहता है। वह अपनी देखभाल के लिए संकेत देना सीखता है। वह अपना सुख–दुख मुंह के माध्यम से एवं मुंह के हावभाव से प्रकट करता है, इसलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं। इस

अवस्था में बच्चा मां के अतिरिक्त किसी को नहीं जानता।

2. **शौच अवस्थाः** इस अवस्था में बच्चे से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने आपको थोड़ा बहुत स्वयं ही संभाले। इस समय उसे शौच प्रशिक्षण दिया जाता है। उसे कब और कहां शौच करना चाहिए का ज्ञान कराया जाता है। हाथ साफ करना, कपड़े गंदे ना करना आदि की शिक्षा दी जाती है। इस अवस्था में बालक अपनी मां की भूमिका को आंतरिकृत करता है। इस अवस्था में बालक बातचीत करता है, चलने लगना है, उसके सामाजिक संबंध भी बढ़ जाते हैं। इस अवस्था में बालक पारिवारिक व्यवहार–प्रतिमानों को अपनाता है। सही कार्यों के लिए प्यार एवं गलत कार्यों के लिए दंड को भी पहचानने लगता है।

3. **इडिपल या तादात्मिकरण की अवस्थाः** यह अवस्था लगभग 4 वर्ष की आयु से आरंभ होकर 12–13 वर्ष की आयु तक चलती है। इस अवस्था में बालक पूरे परिवार का सदस्य हो जाता है। इस अवस्था में बालक को यौनि भेद एवं शारीरिक भिन्नताओं की जानकारी हो जाती है। उसके लिए मां स्त्री होती है और पिता पुरुष। धीरे–धीरे उसमें यौन भावना अव्यक्त रूप से विकसित होने लगती है। सामाजिक भूमिका से तादात्मिकरण करने के लिए वह अपनी भूमिका को आंतरिकृत करता है। सामाजिक समूह से तादात्मिकरण करने के लिए समाज, मित्र समूह, अपने लिंग के साथियों से व्यवहार करना सीखता है।

4. **किशोरावस्थाः** इस अवस्था में बच्चे अपने माता–पिता के नियंत्रण से मुक्त होना चाहते हैं। यह अवस्था मानव जीवन का संक्रमित काल है। इसी काल में कैशोर्य संकट स्थापित होता है। शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इस अवस्था में उन्हें लगने लगता है कि वह बड़े हो गए हैं, उन्हें छोटे बच्चों के साथ नहीं रहना है। वह अपने बारे में स्वयं निर्णय लेना चाहते हैं। इस अवस्था में उनसे यह आशा की जाती है कि वह सामाजिक सांस्कृतिक

पर्यावरण के अनुरूप व्यवहार करें।

5. **युवावस्थाः** इस अवस्था में व्यक्ति पर और अधिक जिम्मेदारी आ जाती है। युवावस्था में व्यक्ति अनेक नए पद प्राप्त करता है और उनसे संबंधित भूमिकाओं का निर्वहन करता है। विभिन्न प्रकार की प्रस्थितियां प्राप्त होती है; पति, पिता, दामाद, अधिकारी आदि। कभी–कभी उसे भूमिका संघर्ष की स्थिति का भी सामना करना पड़ता है। सभी की अपेक्षाओं के अनुसार भूमिका निर्वहन करना एक कठिन कार्य होता है। इस अवस्था में परिवार एवं बाह्य जगत में कई महत्वपूर्ण दायित्वों को निभाना पड़ता है जिसके लिए उसे बहुत कुछ सीखना पड़ता है।

6. **प्रौढ़ावस्थाः** प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति पर सामाजिक दायित्व और भी बढ़ जाते हैं। बच्चों की शिक्षा एवं विवाह तथा रोजगार में स्थापन का भरा जाता है। व्यवसाय के क्षेत्र में वरिष्ठ अधिकारी के रूप में दायित्व संभालना होता है। माना जा सकता है कि वयस्कों का समाजीकरण सरल होता है, क्योंकि वे लक्ष्य प्राप्ति के लिए कार्य व्यवहार सीखते एवं करते हैं, किंतु प्रौढ़ावस्था में जिम्मेदारियां अधिक होने से नए नए कार्य सीखना एवं उसे व्यवहार में लाना थोड़ा कठिन कार्य हो जाता है। पुरानी प्रस्थिति एवं नई प्रस्थिति में सामंजस्य बिठाना और उचित कार्य करने के लिए समाजीकरण की प्रक्रिया में बदलाव करना पड़ता है।

7. **वृद्धावस्थाः** इस अवस्था में व्यक्ति में विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक दृष्टि से परिवर्तन आ जाते हैं। कार्य करने की पूर्ववत् क्षमता नहीं होती है। यदि वह नौकरी कर रहा होता है तो सेवानिवृत्त कर दिया जाता है। अनेक इच्छाओं का दमन करना पड़ता है। नई परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना होता है। घर के अन्य सदस्यों पर निर्भरता बढ़ जाती है। नए रूप में उसे समाजीकरण की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है जिससे वह परिवार के सभी सदस्यों से तादात्म्य बिठा सके। इस प्रकार हम

पाते हैं कि समाजीकरण जीवनपर्यंत चलता रहता है। व्यक्ति आजीवन कुछ ना कुछ सीखता ही रहता है।

अंततः कहा जा सकता है कि समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा जैविकीय प्राणी में सामाजिक गुणों का विकास होता है तथा वह एक सामाजिक प्राणी बनता है। समाजीकरण की प्रक्रिया कौशल क्षमता प्राप्त करना, अनुकरण करना आदि के साथ–साथ इसके विभिन्न माध्यमों से जीवन से संबंधित विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को भी सीखना है, जैसे – परोपकार करना, आत्मनिर्भर बनना, सभ्य सुशील एवं सहनशील बनना आदि। समाजीकरण के माध्यम से व्यक्ति अपने संस्कार, मानवीय मूल्य, नैतिकता आदि को भी सीखता है।

––==00==––

सामाजिक नियंत्रण

भूमिका

सभी समाज अपने सदस्यों से अपेक्षा करता है कि वह उनकी संस्कृति के प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करें। समाज की प्रथाओं, रीति–रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों एवं कानूनों के अनुरूप कार्य करना एवं उसी के अनुसार आचरण कर समाज को स्थायित्व प्रदान करना मनुष्य का सामाजिक कर्तव्य होता है। इसलिए समाज अपने सदस्यों पर कुछ नियंत्रण लगाता है। सामाजिक नियंत्रण वह विधि है जिसके द्वारा समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों के लिए नियम बनाता है। समाज की निर्धारित भूमिकाओं को निभाने के लिए नियमों का पालन करने एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रेरित करता है। समाज में जब नई परिस्थितियां निर्मित होती है तब भी समाज अपने सदस्य पर कुछ सीमा तक प्रतिबंध लगाता है, जिससे नई परिस्थितियों से प्रभावित होकर लोग सामाजिक ढाँचे को तोड़ ना दे। सामाजिक नियंत्रण इसलिए भी आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी प्रकृति से ही स्वार्थी, व्यक्तिवादी, हिंसक एवं संघर्षशील है। यदि उनकी इन प्रवृत्तियों पर रोक नहीं लगाई जाए और उन्हें पूरी तरह से स्वछंद छोड़ दिया जाए तो समाज में कई प्रकार की विसंगतियां उत्पन्न हो जाएंगी। मनुष्य का जीवन कठिन हो जाएगा। सामाजिक नियंत्रण के अभाव में मानवीय संबंधों की व्यवस्था एवं संपूर्ण मानव जीवन अस्त–व्यस्त हो जाएगा। समाज का निर्माण ही सामाजिक संबंधों पर नियंत्रण की व्यवस्था द्वारा होता है।

सामाजिक नियंत्रण का अर्थ

सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य संपूर्ण समाज व्यवस्था के नियम से लिया जाता है, जिसका उद्देश्य सामाजिक आदर्शों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करना है। सामाजिक नियंत्रण से अभिप्राय यह भी है कि सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए समाज के मूल्यों तथा प्रतिमानों को आत्मसात करने का एक माध्यम है। यदि अवहेलना की जाए तो समाज

द्वारा दंड का प्रावधान भी पूर्व निश्चित रहता है। सामाजिक नियंत्रण का मतलब सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए या समाज में संतुलन बनाए रखने के लिए नियमों का एक संकलन भी है।

सामाजिक नियंत्रण की सामान्य धारणा यह है कि समूह द्वारा स्वीकृत नियमों के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करना ही सामाजिक नियंत्रण है। धार्मिक एवं नैतिक नियमों के अनुसार व्यवहार करना सामाजिक नियंत्रण माना गया है। समाज के प्रति एक भय का स्थापित होना भी सामाजिक नियंत्रण माना गया है।

सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा

सामाजिक नियंत्रण के अर्थ को समझने के लिए निम्न परिभाषाओं का उल्लेख कर सकते है।

गिलिन तथा **गिलिन** के अनुसार, ''अपने परिवार के साथ सामाजिक नियंत्रण अनेक प्रकार के सुझावों, प्रतिरोध, उत्पीड़न तथा बल प्रयोग जैसे साधनों की व्यवस्था है जिसके द्वारा समूह अपने सदस्यों के व्यवहार को सामाजिक प्रति मानव के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है।''

रॉक के अनुसार, ''सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य उन समस्त व्यक्तियों से है जिसके द्वारा समाज व्यक्तियों को अपने अनुसार ढालता है।''

दुर्खीम के अनुसार, ''नैतिक मूल्यों को स्वीकार कर उसके अनुरूप कार्य करना ही सामाजिक नियंत्रण है।''

मैकाइवर के अनुसार ''सामाजिक नियंत्रण का मतलब सामाजिक व्यवस्था से है जिसके द्वारा समाज में संतुलन बनाए रखा जाता है।''

पारसंस के अनुसार ''सामाजिक नियंत्रण एक सामाजिक प्रक्रिया है जो मनुष्य के व्यवहार को अनुमोदन के द्वारा नियंत्रित करती है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक नियंत्रण सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने, उसके अनुरूप व्यवहार एवं कार्य करने का एक सशक्त माध्यम है जो व्यक्ति को समाज के हित में कार्य करने के लिए

बाध्य करता है।

सामाजिक नियंत्रण का महत्व

सामाजिक नियंत्रण के कुछ महत्व को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया गया है:

1. **सामाजिक सुरक्षा:** समाज में प्रत्येक सदस्य को सामाजिक अधिकार उसकी प्रस्थिति एवं भूमिका के अनुरूप प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों के द्वारा ही समाज के सभी सदस्यों का शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक एवं संवेगात्मक विकास होता है। यदि सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था ना हो तो शक्तिशाली व्यक्ति दूसरे के अधिकारों का हनन कर सकता है। कानून एवं प्रथाओं के द्वारा ही सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। अधिकारों के साथ–साथ उनके कर्तव्य का बोध भी सामाजिक नियंत्रण के द्वारा ही कराया जा सकता है, जिससे सभी को सामाजिक सुरक्षा मिल सके।
2. **सामाजिक संगठन में स्थिरता:** सामाजिक नियंत्रण से समाज में संगठन बना रहता है। सामाजिक नियंत्रण समाज के सदस्यों को कुछ आदर्शों को स्वीकार करने, व्यवहारों के मापदंडों के अनुसार कार्य करने, समूह की प्रथाओं, रीति–रिवाजों और रूढ़ियों का पालन एवं अच्छे आचरण करने के लिए बाध्य करता है। इसके परिणाम स्वरूप सामाजिक जीवन सुखी एवं संगठित बना रहता है।
3. **सामाजिक संघर्ष को कम करना:** प्रत्येक समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए जन्म से ही पद एवं भूमिका निर्धारित कर दी जाती है। व्यक्ति को अपने पद के अनुरूप ही भूमिका का निर्वाह करना होता है, तभी सामाजिक संघर्ष की संभावना कम होती है और उनमें आपसी सहयोगात्मक प्रवृत्ति का विकास होता है। सामाजिक नियंत्रण से विभिन्न संस्थाएं एवं समाज के विभिन्न साधन सामाजिक संघर्ष कम करते हैं और व्यक्ति को उचित आचरण के लिए प्रेरित करते हैं।

4. **सामाजिक स्वीकृति की प्राप्तिः** व्यक्ति सामाजिक नियंत्रण के कारण ही अपने समाज के मूल्यों एवं मानदंडों को स्वीकार करता है। यदि सामाजिक नियंत्रण ना हो तो व्यक्ति सहजता से इन्हें स्वीकार नहीं करेगा। समाज में नैतिकता का पतन होने लगेगा। समाज में इन सभी मूल्यों का पालन कराने एवं स्वीकार कराने के लिए सामाजिक नियंत्रण को निर्मित किया गया है।
5. **भावनाओं की समानताः** सामाजिक नियंत्रण के कारण ही व्यक्ति समाज में सामान्य व्यवहार करता है, जिससे भावनाओं में एकता एवं समानता नजर आती है। सामाजिक विविधता तथा धार्मिक, सांस्कृतिक विविधता के कारण भावनाओं में समानता का होना अति आवश्यक है। सामाजिक नियंत्रण ही व्यक्ति को समान व्यवहार कर भावनात्मक रूप से जुड़ने में मदद करता है, अन्यथा व्यक्ति दूसरों की भावनाओं को आसानी से चोट पहुंचा सकता है।
6. **समाजीकरण के लिए आवश्यकः** सामाजिक नियंत्रण के द्वारा व्यक्ति के सामाजिक कार्य में सहायता मिलती है। समाजीकरण वाले व्यक्ति को वही व्यवहार सिखाया जाता है जो समाज के अनुकूल हो एवं सामाजिक वह प्राणी बन सके। यदि सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था ना हो तो व्यक्ति का असमाजीकरण हो सकता है जो समाज के हित में नहीं होगा। इसलिए समाजीकरण के लिए सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है।
7. **व्यक्ति के व्यवहार में नियंत्रणः** समाज में सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधन बनाए गए हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित एवं समाज के अनुकूल बनाया जा सकता है। व्यक्ति पर अपने समूह के अनुरूप व्यवहार करने का दबाव बना रहता है। इसलिए सामाजिक नियंत्रण व्यक्ति के व्यवहार पर नियंत्रण रखने के लिए अनिवार्य है।
8. **परंपराओं की रक्षा हेतुः** प्रत्येक समाज की अपनी कुछ परंपराएं होती है। यह परंपराएं समाज के हित एवं उन्नति के लिए उपयोगी

होती है। सामाजिक नियंत्रण ही एकमात्र ऐसा साधन है जो समाज की परंपराओं की रक्षा कर सकता है। नियंत्रण के अभाव में सभी व्यक्ति अपनी मर्जी से कार्य करने लगेंगे और परंपरा नष्ट हो जाएगी, समाज में अव्यवस्था फैल जाएगी।

9. **विचारों एवं कार्यो में संतुलनः** जिस समाज में व्यक्ति के विचारों एवं कार्यो में समानता नहीं होती वहां का संगठन धीरे–धीरे समाप्त हो जाता है। सामाजिक नियंत्रण में विचारों एवं कार्यो में संतुलन बनाए रखने के नियम बनाए जाते हैं। प्राचीन रूढ़ियों में परिवर्तन होता रहता है। यदि इस परिवर्तन के अनुसार कार्य ना हो तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस अव्यवस्था को रोकने के लिए सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है, जिससे विचारों एवं कार्यो में संतुलन बना रहे।

10. **सामाजिक अनिश्चितता को कम करनाः** हमारा समाज परिवर्तनशील है, परंतु यह परिवर्तन अनिश्चित नहीं होना चाहिए जिससे सामाजिक बंधन प्रभावित हो सके एवं समाज की स्थिरता भंग हो जाए। सामाजिक नियंत्रण सामाजिक अनिश्चितता को कम करता है, जिससे समाज में स्थिरता बनी रहे। समाज परिवर्तित तो हो मगर सामाजिक व्यवस्था में अधिक परिवर्तन ना हो।

सामाजिक नियंत्रण के कार्य एवं उद्देश्य

सामाजिक नियंत्रण के कार्य एवं उद्देश्य निम्न हैं:

1. समाज में सुख शांति स्थापित करना।
2. समाज में व्यक्तियों की स्थिति का निर्धारण करना।
3. सामाजिक व्यवहार में समानता लाना।
4. व्यक्ति के व्यवहारों को नियंत्रित करना।
5. समाज के सदस्यों में एकता की भावना उत्पन्न करना।
6. समाज के सभी सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करना।
7. समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों को व्यक्ति को सिखाना।

8. लोगों के विचारों एवं कार्यो में संतुलन स्थापित करना।
9. समाज में एकता स्थापित करना।
10. समाज को व्यवस्थित एवं संगठित करना।
11. समूह के उद्देश्यों को प्राप्त करना।
12. समाज में नैतिकता लाना।
13. व्यक्ति को समाज के अनुसार बनाना।
14. व्यक्ति को नई परिस्थिति का सामना करना सिखाना।

सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप या प्रकार

सामाजिक नियंत्रण सभी तरह के समाजों में मिलता है। सभी समाजों के सामाजिक दशाओं एवं व्यक्तिगत व्यवहारों में भिन्नता होती है। इसी भिन्नताओं के आधार पर सामाजिक नियंत्रण के स्वरूपों में भी भिन्नताएं देखने को मिलती है। सामाजिक नियंत्रण के स्वरूपों या प्रकारों को निम्नानुसार स्पष्ट किया गया हैः

1. **औपचारिक एवं अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रणः** औपचारिक सामाजिक नियंत्रण से तात्पर्य ऐसे नियंत्रण से है जो स्पष्ट रूप से परिभाषित हो एवं सोच समझ कर बनाया गया हो। औपचारिक नियंत्रण सामान्यतः लिखित रूप में होता है। यह नियंत्रण व्यक्ति के बाहरी आचरण को नियंत्रित करता है। औपचारिक नियंत्रण के अंतर्गत विद्यालय, महाविद्यालय, क्लब या अन्य समितियों के नियमों को रखा जा सकता है और औपचारिक नियंत्रण में राष्ट्रीय कानूनों को भी शामिल किया जाता है। इसके विपरीत अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण आदिम समाजों की विशेषता है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि अनौपचारिक नियंत्रण मात्र आदिम समाजों में ही पाया जाए। सभ्य एवं जटिल समाजों में भी सामाजिक नियंत्रण विभिन्न अनौपचारिक साधनों के द्वारा होता है। प्रथाएं, जनरीतियाँ, लोकाचार, धर्म, परिवार, नैतिकता आदि सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन है जो लिखित रूप में नहीं होते मगर इनके

अनुसार व्यवहार नहीं करने पर समाज द्वारा दंड का प्रावधान निर्धारित होता है।

2. **चेतन और अचेतन सामाजिक नियंत्रणः** चेतन सामाजिक नियंत्रण को समाज व्यक्ति पर जानबूझकर लगाता है जैसे कानून, प्रथा, शिक्षा आदि, किंतु अचेतन सामाजिक नियंत्रण सामाजिक अंतःक्रिया के फल स्वरुप स्वयं विकसित होता है, जैसे धर्म, रूढियाँ, लोकरीतियाँ आदि।

3. **सकारात्मक एवं नकारात्मक सामाजिक नियंत्रणः** समाज में कुछ ऐसे नियंत्रण भी होते हैं जिसे पुरस्कारों के माध्यम से प्रोत्साहित किया जाता है, इसे सकारात्मक नियंत्रण के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण को समाज द्वारा प्रशंसा, अनुमोदन, स्वीकृति तथा पुरस्कारों से प्रोत्साहित किया जाता है। उत्साहवर्धन के द्वारा आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने हेतु प्रेरित किया जाता है। नकारात्मक सामाजिक नियंत्रण के अंतर्गत व्यक्ति को भयभीत कर के अथवा डरा धमकाकर सामाजिक नियमों का पालन करने को बाध्य किया जाता है। व्यक्ति दंड या बहिष्कार के डर से सामाजिक नियमों का पालन करता है अथवा कानूनों को स्वीकार करता है।

4. **प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सामाजिक नियंत्रणः** प्रत्यक्ष नियंत्रण वह होता है जिसे समीप रहने वाले व्यक्तियों द्वारा लगाया जाता है, जैसे परिवार, क्रीडा–समूह, पड़ोसी इत्यादि। अप्रत्यक्ष नियंत्रण विभिन्न संस्थाओं और समूहों द्वारा लगाया जाता है।

5. **आग्रह एवं प्रतिरोधी सामाजिक नियंत्रणः** नियंत्रण का यह प्रकार सकारात्मक एवं नकारात्मक नियंत्रण से बहुत कुछ मिलता जुलता है। आग्रह मूलक नियंत्रण में ऐसे नियंत्रणों को शामिल किया जाता है जो शिक्षा, अनुकरण या सुझावों के माध्यम से क्रियाशील होते हैं। इस प्रकार के नियंत्रण में किसी भी प्रकार के जोर या दबाव का प्रयोग नहीं किया जाता है। ऐसे नियंत्रण के

प्रभावशील होने में समाज के सदस्यों का शिक्षित, ईमानदार एवं कर्तव्यनिष्ठ होना बहुत अधिक आवश्यक होता है। इसके विपरीत प्रतिरोधी सामाजिक नियंत्रण वह है जो किसी जोर या दबाव के माध्यम से क्रियाशील होता है, जैसे पुलिस, जेल एवं दंड विधान के द्वारा क्रियाशील नियंत्रण।

6. **संगठितः** असंगठित और सहज सामाजिक नियंत्रण – संगठित नियंत्रण नियमबद्ध तथा सुपरिभाषित होते हैं, जैसे स्कूल, विवाह, परिवार इत्यादि द्वारा लगाया गया नियंत्रण। असंगठित नियंत्रण के अंतर्गत संस्कार, परंपराएं, रूढ़ियाँ और सामाजिक मापदंड इत्यादि आते हैं। सहज सामाजिक नियंत्रण का आधार व्यक्ति का अनुभव तथा आवश्यकता है, जो व्यक्ति को किसी विशेष कार्य को करने की प्रेरणा देती है।

सामाजिक नियंत्रण के साधन या अभिकरण

सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था को प्रभावी बनाने के लिए अनेक साधनों एवं अभीकरणों का सहारा लिया जाता है। साधनों एवं अभिकरणों में अधिक अंतर नहीं है। अभिकरण से तात्पर्य उन समूहों, सत्ता एवं संगठनों से है जो किसी भी प्रकार के नियंत्रण को समाज पर लागू करते हैं, जैसे परिवार, राज्य, शिक्षण संस्थाएं एवं विभिन्न संगठन जो नियमों एवं कानूनों को लागू करने वाले मूर्त माध्यम हैं। साधन से तात्पर्य विधि या तरीके से है जिसके द्वारा कोई भी अभीकरण अपनी नीतियों एवं आदेशों को लागू करती है। प्रथा, परंपरा, जनमत, कानून, दंड, पुरस्कार, लोकाचार, हास्य–व्यंग आदि सामाजिक नियंत्रण के साधन हैं। साधन एवं अभिकरण दोनों ही मिलकर सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था को कायम रखते हैं। हम यहां पर विभिन्न साधनों का उल्लेख कर रहे है।

1. **परिवारः** नियंत्रण के अनौपचारिक एवं असंगठित एवं प्राथमिक साधनों में परिवार का स्थान सर्वोपरि है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों को आत्मसात करता है।

प्राथमिक समूह होने के कारण बालक अपने परिवार से बहुत कुछ सीखता है। परिवार में किस प्रकार से व्यवहार करना चाहिए एवं किस के प्रति क्या कर्तव्य है, सामाजिक नियम क्या है, यह सभी परिवार के द्वारा सिखाया जाता है। यदि व्यक्ति द्वारा गलत आचरण या अवमानना की जाती है तो परिवार व्यक्ति के व्यवहार पर अंकुश लगाकर समाज के नियंत्रण में रखता है। प्रत्येक सदस्य के मन में परिवार के विरुद्ध जाने पर एक प्रकार का भय बना रहता है, यह सामाजिक नियंत्रण है।

2. **जनरीतियाँः** जनजातियों का पालन व्यक्ति अचेतन रूप से करता है। जनरीतियों का जन्म समाज में स्वतः होता है। समाज में व्यवहार करने की स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त विधियाँ ही जनरीतियाँ कहलाती है। समाज के सभी लोग इसका पालन करते हैं। इनका उल्लंघन करने पर समाज द्वारा निंदा या आलोचना की जाती है, व्यक्ति की हंसी उड़ाई जाती है, उन पर व्यंग किया जाता है, यह सामाजिक नियंत्रण का एक सशक्त माध्यम है। इनका उल्लंघन करना सरल कार्य नहीं है।

3. **प्रथाएंः** प्रथा भी सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण साधन है तथा व्यवहार का एक रूप है जो आदत बन जाती है, जिसे समाज द्वारा मान्यता दे दी जाती है। प्रथा एक ऐसी आदत है जिसका पालन समाज के अधिकांश लोग करते हैं। यदि व्यवहार प्रथा के अनुकूल ना हो तो समाज द्वारा दंड दिया जाता है। सभी समाज अपनी अपनी प्रथाओं का पालन करते हैं

4. **जनमतः** जनमत भी सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण अनौपचारिक साधन है। जनमत व्यक्ति के व्यवहारों को प्रतिबंधित एवं निर्देशित करता है। आदिम समाज में एवं आधुनिक समाजों में जनमत लोगों के व्यवहारों पर अंकुश रखता है। सभ्य समाजों में सरकार द्वारा नीतियाँ, संघ, राज्य एवं सामाजिक व्यवहार सामाजिक नियंत्रण का कार्य करते हैं। प्रजातंत्र में तो जनमत से सरकार का गठन होता

है। जनमत राज्य सरकार एवं संघों पर नियंत्रण रखने में अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

5. **हास्य एवं व्यंगः** हास्य एवं व्यंग सामाजिक नियंत्रण का एक प्राचीन साधन है। व्यक्ति के व्यवहारों पर हास्य एवं व्यंग द्वारा अप्रत्यक्ष एवं मधुर रूप से नियंत्रण रखा जाता है। व्यक्ति के समाज विरोधी व्यवहार पर कविता, साहित्य एवं कला के द्वारा मार्मिक रूप से व्यंग किया जाता है, जिससे दोषी व्यक्ति अपने व्यवहारों के प्रति जागरूक होकर उचित व्यवहार करने लगता है।
6. **दंड एवं पुरस्कारः** दंड एवं पुरस्कार सामाजिक नियंत्रण के महत्वपूर्ण साधन हैं। यदि व्यक्ति समाज विरोधी कार्य करता है तो उसे दंड देकर भविष्य में ऐसा कार्य न करने की सलाह दी जाती है। दूसरी ओर यदि व्यक्ति समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को करता है तो उसे पुरस्कार प्रदान किया जाता है। कई बार पुरस्कार प्राप्त करने के लिए भी व्यक्ति समाज के अनुकूल कार्य करता है। पुरस्कार के कारण व्यक्ति की कार्य कुशलता में वृद्धि होती है एवं दण्ड के भय से व्यक्ति उचित कार्य एवं व्यवहार करने लगता है।
7. **कानूनः** कानून सामाजिक नियंत्रण में सबसे अधिक प्रभावकारी एवं सशक्त साधन है। कानून का मौलिक कार्य व्यक्ति के प्राकृतिक उद्वेग और मूल प्रवृत्तियों के प्रभाव को कम करना अथवा एक सामाजिक व्यवहार को प्रोत्साहन देना है। कानून का भय भी व्यक्ति को सही एवं समाज के अनुकूल व्यवहार एवं कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। कानून सामाजिक नियंत्रण का औपचारिक साधन है, जिसका कार्य व्यक्तियों के बीच सहयोग पैदा करना होता है, जिससे वे सामान्य लक्ष्य को पाने के लिए अपने स्वयं के स्वार्थों का बलिदान कर सके।
8. **धर्म** – धर्म सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है। ईश्वरी सत्ता, पाप एवं नरक के भय से व्यक्ति समाज विरोधी कार्यों से बचता है। धर्म व्यक्ति के आचरण में सुधार लाकर सामाजिक मूल्यों का पालन

करना सिखाता है। सामाजिक नियंत्रण में धर्म एक अनौपचारिक साधन के रूप में कार्य करता है।

9. **नैतिकता:** धर्म की भांति नैतिकता भी सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है। नैतिकता व्यक्ति को उचित–अनुचित का ज्ञान कराती है। अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित कर बुरे कार्य पर अंकुश लगाती है। नैतिकता में समूह कल्याण की भावना छिपी रहती है। नैतिक नियमों को समाज में उचित एवं आदर्श माना जाता है एवं इनके उल्लंघन पर सामाजिक निंदा एवं प्रतिष्ठा की हानि का भय रहता है। यही कारण है कि व्यक्ति उचित व्यवहार करता है।

10. **शिक्षा:** शिक्षा के विभिन्न प्रकार्यों में एक महत्वपूर्ण प्रकार्य है समाज में नियंत्रण बनाए रखना। शिक्षा व्यक्ति में तर्क एवं विवेक पैदा करती है। शिक्षा व्यक्ति में आत्म नियंत्रण की शक्ति जागृत करती है, जिससे वह स्वयं ही उचित एवं अनुचित को ध्यान में रखकर सामाजिक नियमों एवं कानूनों का पालन करता है। सामाजिक नियंत्रण के अन्य साधनों में बदले की भावना आ सकती है परंतु शिक्षा हमेशा व्यक्ति के मस्तिष्क में मूल्यों को स्थान देती है। शिक्षित व्यक्ति सामाजिक नियंत्रण के सभी साधनों से अवगत होता है एवं शैक्षिक मूल्य को अपनाता है।

11. **राज्य:** राज्य सामाजिक नियंत्रण का एक प्रभावशाली अभिकरण है, जिसके पास दमनकारी शक्ति होती है। पुलिस, न्यायालय, जेल एवं कानून के द्वारा वह अपने भू–क्षेत्र में सामाजिक नियंत्रण को बनाए रखता है, समाज विरोधी तत्व एवं अपराधियों पर अंकुश रखता है, उन्हें दंड देता है एवं सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए पुरस्कृत कर प्रोत्साहित भी करता है। राज्य द्वारा सुधार गृह की स्थापना की जाती जिससे अपराधियों में सुधार आ सके और वह सुयोग्य नागरिक बन सकें।

इस प्रकार हम देखे तो सामाजिक नियंत्रण पुरातन धारणा है। सभी समाजों में चाहे सभ्य समाज हो या आदिम समाज, जटिल समाज हो या

सरल समाज हमेशा किसी ना किसी रूप में मानव व्यवहार को नियंत्रित करने का कार्य करती है। यदि सामाजिक नियंत्रण नहीं होता तो समाज में विभिन्न प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हो जाती। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। शक्तिशाली का बोलबाला एवं कमजोर वर्ग का शोषण होता। सामाजिक नियंत्रण ही समाज की व्यवस्था को मजबूत एवं दीर्घकालिक बनाए हुए है। सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधन समय के साथ और भी सुदृढ़ हो रहे हैं। तात्पर्य यही है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर नियंत्रण लगाने एवं व्यवहार को नियमित तथा नियंत्रित करना ही सामाजिक नियंत्रण है।

––==00==––

प्रतिमान और मूल्य प्रतिमान

भूमिका

समाज में मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए अपनी आवश्यकताओं के अनुसार व्यवहार के कुछ नियम होते हैं। समाज में रहने वाले प्रत्येक प्राणी से यह आशा की जाती है कि वह समाज के नियम, कानून एवं परंपरा को जाने, इनके पीछे के व्यवहारिक नियमों का पालन करें। समाज का स्वरूप इन्हीं नियमों के आधार पर निर्धारित एवं विकसित होता है। व्यवहार के इन्हीं नियमों को सामाजिक प्रतिमान या सामाजिक मानदंड कहा जाता है। सामाजिक प्रतिमान समाज के वे नियम हैं जो सांस्कृतिक विशेषताओं, सामाजिक मूल्यों और समाज द्वारा स्वीकृत विधियों के अनुसार किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने का निर्देश देते हैं। ये किसी भी समाज के आदर्श नियम होते हैं। मापदंडों के आधार पर हम किसी मानवीय व्यवहार को उचित एवं अनुचित ठहरा सकते हैं। मानव अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाज द्वारा स्वीकृत मानदंडों को अपनाता है। यदि प्रतिमान अथवा मापदंड नहीं होते तो सामाजिक संरचना अस्त व्यस्त हो जाती। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सामाजिक प्रतिमान का पालन करना आवश्यक है।

प्रतिमान का अर्थ

व्यवहार के सामाजिक एवं संस्थागत तरीके को प्रतिमान कहते हैं, जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों के व्यवहार पर इस प्रकार नियंत्रण करता है कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी क्रियाओं को संपादित करें। प्रतिमान सामाजिक संगठन के तत्वों को निर्मित करते हैं अर्थात् समाज के नियम ही समाज के प्रतिमान हैं।

प्रतिमान की परिभाषा

प्रतिमान के अर्थ को निम्न में परिभाषाओं द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं

किंबालयंग के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमान से हमारा तात्पर्य

समाज के द्वारा रखी जाने वाली अपेक्षाओं से है''

बोगार्डस के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमान उन नियमों को कहा जाता है जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीकों के अनुसार व्यक्ति को व्यवहार करने के लिए निर्देशित करते हैं।

बीरस्टीड के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमान संक्षेप में कार्य प्रणालियों की प्रमाणित विधियाँ हैं, कार्य सम्पन्न करने का एक तरीका है, जो हमारे समाज द्वारा स्वीकृत है।''

किंग्लसे डेविस के अनुसार, ''सामाजिक प्रतिमान समाज के नियंत्रक तत्व हैं।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है की सामाजिक संबंधों, व्यवहारों तथा आचरणों को नियंत्रित करने हेतु जिन आदर्शात्मक नियमों का पालन किया जाता है, उन्हें सामाजिक प्रतिमान अथवा सामाजिक मापदंड कहा जाता है जो सभी समाज में समान रूप से पाया जाता है।

सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण

सामाजिक प्रतिमानों को चार भागों में वर्गीकृत किया गया हैः

1. **निर्धारित मानदंडः** निर्धारित मानदंड वे होते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए समाज द्वारा मान्य एवं अपेक्षित व्यवहार के रूप में अपनाए जाते हैं। प्रत्येक के लिए निहित भूमिका करने की आशा समाज द्वारा की जाती है। उदाहरण स्वरूप मां को अपने बच्चे की देखभाल करनी चाहिए।
2. **अधिमान्य मानदंडः** इसका अर्थ ऐसे मानदंडों से जो यद्यपि पालन करने के लिए अनिवार्य नहीं है फिर भी उनका पालन किया जाता है तो अच्छा समझा जाता है और ऐसे व्यवहार की प्रशंसा की जाती है।
3. **स्वीकृत मानदंडः** यह वह व्यवहार होता है जिसे पालन करना नहीं है बल्कि उन्हें कर लिया जाता है और उन्हें मान्य कर लिया जाता है।

4. **निषेधात्मक मानदंडः** समाज द्वारा जो व्यवहार मान्य नहीं होते वे निषेधात्मक मानदंड कहे जाते हैं, जिसे करने से समाज का अहित होता है और समाज द्वारा दंड भी दिया जाता है।

सामाजिक प्रतिमान के प्रकार

किंग्सले डेविस के द्वारा सामाजिक प्रतिमानों को निम्न प्रकारों में विभक्त किया गया है:

1. **जनरीतियांः** सामाजिक प्रतिमानों के रूप में जनरीतियों का महत्वपूर्ण स्थान है। जैसे नमस्कार करना, गुरुजनों को प्रणाम करना, सड़क पर बाई तरफ चलना, किसी के मकान में आवाज देकर प्रवेश करना आदि। प्रत्येक समाज में जनरीतियों में भिन्नता पाई जाती है। भारत में अपने मित्रों से मिलने पर अभिवादन में अपना हाथ जोड़ते हैं, जापानी लोग जब अपने मित्र से मिलते हैं तो अपना जूता खोलते हैं।
2. **रूढियाँः** जनरीतियों में जब कल जनकल्याण का तत्व जुड़ जाता है तो उसे रूढ़ि के नाम से संबोधित किया जाता है। भारतीय समाज में अपनी ही जाति में विवाह करना एक रूढ़ि है मगर इससे पवित्रता कायम रहती है, इसलिए यह एक प्रतिमान है जो समाज के लिए आदर्शात्मक नियम होते हैं। जब कोई व्यवहार समूह के लिए आवश्यक समझ लिया जाता है तो वह रूढ़ि का रूप ले लेता है।
3. **प्रथाएंः** प्रथाएं जनरीतियों एवं रूढ़ियों का वह रूप है जिसे समाज व्यवहारिकता एवं अनुभव के आधार पर स्वीकार करता है। जब जनरीतियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती है तो वहीं प्रथाओं का रूप ले लेती है और समाज में स्थायित्व प्राप्त कर लेती है। समाज के सभी व्यक्ति इसका पालन इसलिए करते हैं क्योंकि सभी इसे अनिवार्य समझते हैं। व्यक्ति के मन में यही भावना रहती है कि यदि प्रथाओं का पालन ना किया जाए तो कुछ अहित हो सकता है।

समाज में पीढ़ियों से इसका पालन किया जा रहा है।

4. **परंपराः** परंपराओं में विश्वासों तथा कला पक्ष का समावेश होता है। परंपरा शब्द का तात्पर्य सामाजिक विरासत से है, जो प्राचीन समय से चली आ रही है, जैसे माता–पिता एवं बुजुर्गों द्वारा छोटे बच्चों को कहानी सुनाना एक परंपरा है। परंपरा, कानून तथा कहानी पौराणिक कथाओं का एक संग्रह है जो मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता है। परंपरा का पालन हम अचेतन रूप से करते हैं। यह हमारे सामाजिक प्रतिमान में है जो हमारे व्यवहार में झलकने लगता है जिसे करना हम अपना धर्म समझते हैं।

5. **धर्मः** सामाजिक प्रतिमान में धर्म का भी महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म आध्यात्मिक शक्ति के ऊपर विश्वास है। धर्म के सिद्धांतों के आधार पर व्यक्ति अपने आचरणों और व्यवहारों को नियंत्रित करता है। धर्म व्यक्ति को अधिकारों के साथ–साथ कर्तव्य भावनाओं से परिपूर्ण बनाता है। धर्म व्यक्ति को उचित एवं अनुचित में भेद करना बताता है। इसी कारण सामाजिक नियंत्रण में भी धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

6. **आचारः** सामाजिक प्रतिमान में सामाजिक आचार की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। जिन व्यवहारों एवं नियमों का संबंध ईश्वर संबंधित साहित्य से ना होकर केवल अंतःचेतना द्वारा उचित–अनुचित की विचारधारा पर आधारित हो तो उन्हें सामाजिक अचार कहा जाता है। आचार कर्तव्य की आंतरिक भावना अर्थात् उचित अनुचित पर बल देता है। आचार के नियम, न्याय, पवित्रता, शुद्धता तथा सत्यता के सिद्धांतों पर आधारित होते हैं।

7. **कानूनः** आधुनिक युग में कानून सामाजिक प्रतिमानों में से महत्वपूर्ण स्वरूप एवं शक्तिशाली साधन माने गए हैं। कानून का पालन करना सभी के लिए अनिवार्य होता है। कानूनों की अवहेलना करने पर उसे दंड का भागीदार बनना पड़ता है। इसी कारण उन नियमों को

सभी लोग स्वीकार करके उसका पालन करते हैं और सामाजिक व्यवस्था कायम रहती है।

सामाजिक प्रतिमानों की विशेषताएं

सामाजिक प्रतिमानों या मानदंडों की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं:

1. सामाजिक प्रतिमानों को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है। इसका निर्माण एवं विघटन दोनों सामाजिक स्तर पर होता है व्यक्ति विशेष के स्तर पर नहीं।
2. सामाजिक मानदंडों में छोटे–बड़े उप नियम होते हैं जो समाज में उचित–अनुचित का भेद कराते हैं।
3. सामाजिक प्रतिमान सभी समाजों में अनिवार्य रूप से पाया जाता है, इसके बिना आदर्श समाज की परिकल्पना नहीं की जा सकती।
4. सामाजिक प्रतिमान औपचारिक एवं अनौपचारिक सभी रूपों में पाया जाता है और औपचारिक प्रतिमान लिखित एवं अनौपचारिक प्रतिमान लिखित या मौखिक रूप में पाए जाते हैं।
5. सामाजिक प्रतिमान में परिवर्तन करना कठिन कार्य होता है। इसे परिवर्तित करने में कई पीढ़ियां लग जाती है।
6. सामाजिक प्रतिमान लाखों वर्ष पुरानी व्यवस्था है। यह मानव विकास का एक अंग है क्योंकि यह सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करने में सहयोग देता है।
7. सामाजिक प्रतिमान को व्यवहार में लाने के लिए सभी समाजों में किसी ना किसी प्रकार का दंड विधान होता है जो उल्लंघन करने पर व्यक्ति को दिया जाता है।
8. सामाजिक प्रतिमान का संबंध नैतिकता से होता है। इसे हम वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर सही या गलत नहीं मान सकते।
9. इनका पालन करना व्यक्ति के व्यवहार का अभिन्न अंग बन जाता है जो जीवन में समाहित होता है।
10. सामाजिक प्रतिमान सापेक्ष होते हैं। यह सभी लोगों पर या सभी

स्थानों पर एक समान लागू नहीं होते।

11. सामाजिक प्रतिमान सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है जो मानव व्यवहार को नियंत्रित एवं नियमित करते हैं।
12. सामाजिक प्रतिमान भिन्न–भिन्न मानव समूहों के मध्य पैदा होने वाले संघर्षों में उनके अस्तित्व की रक्षा भी करते हैं।
13. सामाजिक प्रतिमान समाज में प्रकाश स्तंभ का काम करते हैं। यह व्यक्तियों को निर्देश देते हैं कि कौन सा आचरण करना चाहिए एवं कौन सा नहीं।
14. सामाजिक प्रतिमान में विकल्प भी पाए जाते हैं। किसी एक प्रतिमान का चयन करने के लिए व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता है।

मूल्य की अवधारणा

सामाजिक मूल्य वह मानक है जिनके द्वारा हम किसी वस्तु, व्यवहार, लक्ष्य, साधन, गुण आदि को अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, वांछित या अवांछित ठहराते हैं। इन्हें हम उच्चस्तरीय मानदंड कह सकते हैं। सामाजिक मूल्य वे आदर्श है जो सामाजिक जीवन में व्यक्ति के आचरण में अभिव्यक्त होते हैं। सामाजिक मूल्य में संज्ञानात्मक, आदर्शात्मक तथा भौतिक तीनों प्रकार के तत्व निहित होते हैं। मूल्य के आधार पर ही हमें यह पता चलता है कि समाज में किसे अच्छा या बुरा समझा जाता है। विभिन्न समाजों की आवश्यकताएं तथा आदर्श भिन्न–भिन्न होते हैं, अतः सामाजिक मूल्य भी भिन्न होते हैं। किसी भी समाज में सामाजिक मूल्यों उन उद्देश्यों, सिद्धांतों अथवा विचारों को कहते हैं जिनको समाज के अधिकांश सदस्य अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक समझते हैं। मातृभूमि, राष्ट्रगान, धर्मनिरपेक्षता, प्रजातंत्र इत्यादि हमारे सामाजिक मूल्य को ही व्यक्त करते हैं।

सामाजिक मूल्य का अर्थ

सामाजिक मूल्य किसी समाज में प्रचलित वे आदर्श नियम होते हैं जिनके प्रति समाज के सदस्य श्रद्धा रखते हैं। सामाजिक मूल्य विभिन्न

सामाजिक घटनाओं को मापने का एक पैमाना है जो घटित घटनाओं को उचित एवं अनुचित आचरण के द्वारा मूल्यांकित करते हैं। मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं सामाजिक व्यवस्था के साथ बहुत गहराई से जुड़े होते हैं। मूल्य जीवन के उद्देश्य और उन्हें प्राप्त करने के साधनों को स्पष्ट करते हैं। हमारे जीवन की सभी गतिविधियां मूल्य से जुड़ी होती है।

सामाजिक मूल्य की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई सामाजिक मूल्य की परिभाषा निम्न हैः

डॉक्टर राधा कमल मुखर्जी के अनुसार, ''मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत वे इच्छाएं तथा लक्ष्य है जिनका आंतरिकरण सीखने अथवा समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से आरंभ होता है और जो प्राकृतिक आधिमान्यताएं, मानक, अभिलाषाएं बन जाती हैं।''

इलियट और **मैरिल** के अनुसार, ''सामाजिक मूल्य वे वस्तुएं हैं जो हमारे लिए अर्थपूर्ण होती है जिन्हें हम अपनी दिनचर्या में महत्वपूर्ण मानते हैं।''

वुड्स के अनुसार, ''मूल्य दैनिक जीवन के व्यवहार को नियंत्रित करने के सामान्य सिद्धांत हैं। मूल्य ना केवल मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करते हैं अपितु वे अपने आप में आदर्श एवं उद्देश्य भी है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मूल्य का एक सामाजिक आधार होता है और वह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्यों को अभिव्यक्त करते हैं। मूल्य हमारे व्यवहार का सामान्य तरीका है। मूल्य ही हमें उचित एवं अनुचित में अंतर करना सिखाते हैं।

मूल्य के प्रकार

मूल्य के निम्न प्रकार बताए गए हैः

1. **जैविक या सावयवी मूल्यः** यह मूल्य व्यक्ति के शरीर रचना एवं रक्षा के लिए निर्धारित किए जाते हैं। जैसे शराब मत पीयो सावयवी मूल्य है क्योंकि शराब से स्वास्थ्य खराब होता है, शराब का प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है समाज में भी शराब का दुष्परिणाम देखा

जा सकता है। उसी प्रकार आग पानी से बचाव भी सावयवी मूल्य के अंतर्गत आता है।

2. **नैतिक मूल्यः** सभी समाजों में विभिन्न प्रकार के नैतिक मूल्य पाए जाते हैं। नैतिक मूल्यों का संबंध समाज के धर्म एवं विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों से होता है। नैतिक मूल्य सामूहिक तौर पर स्वीकृत होते हैं, जैसे झूठ नहीं बोलना चाहिए एवं सभी का सम्मान करना चाहिए एक नैतिक मूल्य है। नैतिक मूल्य समाज को सभ्य एवं विकसित बनाने में मदद करते हैं।
3. **सांस्कृतिक मूल्यः** सांस्कृतिक मूल्यों की उत्पत्ति व्यक्ति के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में नियमितता एवं नियंत्रण के लिए हुई है। परंपरा, प्रथा, रीति–रिवाज, लोककला, गायन, सांस्कृतिक क्रियाएं, नृत्य आदि सांस्कृतिक मूल्य कहे जाते हैं।
4. **सौंदर्य परक मूल्यः** किसी भी चीज को देखने का नजरिया ही सौंदर्य परक मूल्य कहे जाते हैं। किसी की सुंदरता या कोमलता को अच्छा मानना इसी मूल्य के अंतर्गत आता है। हरियाली का अच्छा लगना, पक्षियों का चहकना, विभिन्न प्रकार की कलाएं, किसी स्त्री का रंग रूप आदि सौंदर्य परक मूल्य के अंतर्गत आते हैं। यह मूल्य समय के साथ बदलता रहता है, उसकी जगह पर नए प्रकार के सौंदर्य परक मूल्य स्थापित होते रहते हैं।
5. **विशिष्ट मूल्यः** इसका निर्धारण परिस्थितियों के लिए किया जाता है। अवसर विशेष के लिए जिन मूल्यों का प्रचलन किया जाता है वहीं विशिष्ट मूल्य कहलाते हैं। जैसे ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए भारतीय जनता का एक साथ कृत संकल्प होना।
6. **सामाजिक मूल्यः** मूल्य सामाजिक जीवन से संबंधित होते हैं। सहयोग, दान, सेवा, निवास, भूमि, समूह इत्यादि के निर्धारित मूल्य इस कोटि में आते हैं। सामाजिक व्यवहार, आदत एवं परंपराएं भी सामाजिक मूल्य के अंतर्गत आते हैं।

कुछ विद्वानों ने सामाजिक मूल्य को दो अलग–अलग प्रकार से भी विभाजित किया है, जैसेः

1. **सकारात्मक मूल्यः** ये वे मूल्य होते हैं जो समाज के विकास एवं हित के लिए बने होते हैं। इस मूल्य से आपसी संबंध एवं सामाजिक संरचना मजबूत होती है। समाज में एकता स्थापित होती है। सामाजिक प्रतिमानों का पालन होता है। समाज के लोग आपस में सहयोग के साथ जीवन यापन करते हैं।
2. **नकारात्मक मूल्यः** ये वे मूल्य होते हैं जो समाज को नुकसान पहुंचाते हैं एवं सामाजिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था को अस्त–व्यस्त कर देते हैं। इनमें सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार या आचरण नहीं किया जाता है।

मूल्य की विशेषताएं

मूल्य की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख निम्नलिखित हैः

1. सामाजिक मूल्य एक मानसिक धारणा है। जिस प्रकार समाज अमूर्त है उसी प्रकार मूल्य भी अमूर्त है। मूल्य का कोई स्वरूप नहीं होता है।
2. मूल्य एक सामाजिक मानक होता है, जिसके उल्लंघन करने वालों को समाज विरोधी माना जाता है।
3. मूल्य व्यवहार करने के विस्तृत तरीके ही नहीं है अपितु समाज द्वारा वांछित तरीकों के प्रति व्यक्त की जाने वाली प्रतिबद्धता है।
4. किसी भी समाज का मूल्य वहां की संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। मूल्य संस्कृति की ही उपज है और संस्कृति को बनाए रखने में सहायक भी है।
5. सामाजिक मूल्य मानव व्यवहार के प्रेरक अथवा चालक के रूप में कार्य करते हैं।
6. सामाजिक मूल्य को व्यक्ति समाजीकरण के द्वारा आंतरिकृत करते हैं।

7. सामाजिक मूल्य में संज्ञानात्मक, आदर्शात्मक एवं भौतिक तीनों प्रकार के तत्व निहित होते हैं।
8. सामाजिक मूल्य भी नैतिकता–अनैतिकता एवं उचित–अनुचित के मापदंड होते हैं।
9. मूल्य सापेक्षिक रूप से स्थिर होता है, उसमें परिवर्तन आसानी से नहीं किया जा सकता है।
10. सामाजिक मूल्य सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक आवश्यकता के लिए महत्वपूर्ण होते हैं।
11. सामाजिक मूल्य से समाज में एकता की भावना का संचार होता है। समान मूल्यों को मानने वाले लोग सामान परिस्थिति में समान व्यवहार करते हैं।
12. सामाजिक मूल्य के माध्यम से समाज के सदस्यों के बीच एक संतुलन बना रहता है।
13. किसी भी समाज की प्रगति का मूल्यांकन सामाजिक मूल्य के आधार पर ही किया जाता है।
14. सामाजिक मूल्य पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं।

अंततः सामाजिक प्रतिमान एवं सामाजिक मूल्य समाज के बहुत ही आवश्यक अंग हैं। यह हमारे समाज के आधार स्तंभ माने जाते हैं जिन पर पूरा समाज टिका होता है। समाज के सभी सदस्यों द्वारा इनका पालन करना अनिवार्य होता है। सामाजिक मूल्य एवं सामाजिक प्रतिमान समाज द्वारा स्वीकृत एवं समाज के लिए उपयोगी होते हैं। इनका पालन करना समाज को लाभ एवं पालन न करना समाज को नुकसान पहुंचाता है। इनका कार्य समाज में एकरूपता लाना है। सभी सामाजिक प्रतिमान एवं सामाजिक मूल्यों के कुछ ना कुछ प्रकार एवं विशेषताएं हैं। इन सभी प्रकारों में समाज उपयोगी धारणा छिपी हुयी है। सभी सामाजिक प्राणी को इन प्रतिमानों एवं मूल्यों के अनुरूप आचरण करना अपने जीवन को सरल बनाना ही है।

––==00==––

इकाई 3

सामाजिक स्तरीकरण

सामाजिक गतिशीलता

सामाजिक स्तरीकरण

भूमिका

प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से भिन्न है। समाज में सभी व्यक्ति एक समान नहीं होते हैं, उनमें अनेक जैविक और सामाजिक भेद होते हैं। आदिकाल से मानव समाज में असमानता विद्यमान रही है। समाज की जनसंख्या ना केवल अनेक समूहों में विभक्त रही है, अपितु उन समूहों में ऊंच–नीच का भेद भी रहा है। यह भिन्नता बुद्धि, योग्यता, लिंग, कुशलता के आधार पर होती हैं। ऐसी अवस्था में यदि सभी को एक ही स्तर पर रखा जाए तो समाज की प्रगति समाप्त हो जाएगी। दूसरे शब्दों में कहें तो सामाजिक स्तरीकरण समाज का विभिन्न स्तरों में विभाजन है। सामाजिक स्तरीकरण प्राचीन काल से किसी ना किसी रूप में समाज में पाया जाता रहा है। प्राचीन काल में इसके आधार आयु, लिंग, शारीरिक शक्ति आदि गुण थे, जबकि आधुनिक काल में अर्जित गुणों का विशेष महत्व है। सामाजिक स्तरीकरण के मूल तत्व में सामाजिक विभेदीकरण एवं उच्चता एवं निम्नता की एक व्यवस्था भी है जिसे सामाजिक मान्यता प्राप्त है।

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ

सामाजिक स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तियों के समूह को उच्च एवं निम्न स्थिति में विभक्त कर दिया जाता है, जब इस विभाजन को समाज द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो उसे सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं। सामाजिक व्यवस्था में निरंतरता एवं स्थायित्व बनाए रखने के लिए समाज में सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता होती है। इसके कारण ही समाज में व्यक्ति की स्थिति एवं कार्य निश्चित होते हैं, सामाजिक संगठन सुव्यवस्थित रहता है। सामाजिक स्तरीकरण के कारण ही समाज में श्रम विभाजन एवं वर्ग विभाजन की व्यवस्था निर्मित होती है, जो समाज की उन्नति के लिए अति आवश्यक है।

सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा

रेमंड मुरे के अनुसार ''सामाजिक स्तरीकरण उच्च एवं निम्न सामाजिक कार्यों में किया गया क्रमागत विभाजन है।''

पारसंस के अनुसार ''प्रतिष्ठा के आधार पर श्रेणीबद्धता की व्यवस्था को हर समाज का स्तरीकरण कहते हैं।''

आर. एन. मुखर्जी के अनुसार ''सामाजिक स्तरीकरण समाज को विभिन्न उच्च और निम्न वर्गों में विभाजित करने और उसी के अनुसार सामाजिक संरचना में उनकी स्थिति व भूमिका को निर्धारित करने की एक सामाजिक व्यवस्था है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक स्तरीकरण वह व्यवस्था है, जिसमें संपूर्ण समाज विभिन्न स्तरों में विभाजित रहता है। यह व्यवस्था समाज को धन, पद, प्रतिष्ठा, सम्मान और शक्ति के आधार पर भिन्न–भिन्न समूहों अथवा स्तरों में विभाजित कर देती है, जिससे सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से संचालित होती रहती है।

सामाजिक स्तरीकरण के आधार

सामाजिक स्तरीकरण के सभी आधारों को हम प्रमुख रूप से दो भागों में बांट सकते हैः

1. **प्राणी शास्त्री आधार**

इसके अंतर्गत निम्नलिखित बिंदुओं का उल्लेख किया गया है।

1. **लिंगः** लिंग के आधार पर समाज का वर्गीकरण पुरुषों और स्त्रियों के बीच किया जाता है। इसी आधार पर मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक परिवारों का जन्म हुआ। पुरुषों एवं स्त्रियों के पद भी अलग–अलग निर्धारित होते हैं। पद के आधार पर ही भूमिका का निर्धारण होता है। दोनों के कार्य क्षेत्र में भी भिन्नता पाई जाती है।
2. **आयुः** प्रत्येक समाज में कई पद ऐसे हैं जो एक निश्चित आयु के व्यक्तियों को ही प्रदान किए जाते हैं। आयु के आधार पर समाज के प्रमुख चार स्तर शिशु, किशोर, प्रौढ़ और वृद्ध पाए जाते हैं।

महत्वपूर्ण पद अनुभव एवं आयु के आधार पर दिए जाते हैं। उत्तरदायित्व के कार्य अनुभवी और वृद्ध व्यक्तियों को सौंपे जाते हैं।

3. **प्रजातिः** प्रजाति के आधार पर भी समाज स्तरों में विभाजित है। जहां एक से अधिक प्रजातियां साथ साथ रहती है, वहां जिस प्रजाति के लोग शासन एवं सत्ता में होते हैं वह संपन्न होते हैं, वह प्रजाति अपने को दूसरी प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती है, उन्हें विशेष सुविधा एवं अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रजाति के आधार पर गोरा–काला रंग भी स्तरीकरण का एक आधार है।

4. **जन्मः** जन्म भी सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग उच्च कुल, वंश एवं जाति में जन्म लेते हैं वह अपने को दूसरों से सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। भारत में जाति प्रथा के कारण समाज एवं समुदाय विभिन्न स्तरों में विभाजित है। सभी जातियों को समाज द्वारा विभिन्न स्तरों में विभाजित किया गया है।

5. **शारीरिक एवं बौद्धिक कुशलताः** वर्तमान समय में व्यक्ति की परिस्थितियां एवं स्तर का निर्धारण उसकी शारीरिक एवं मानसिक कुशलता, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर होने लगा है। जो लोग आलसी या अकुशल होते हैं उनका स्तर उन लोगों से निम्न होता है जो बुद्धिमान, परिश्रमी एवं कुशल होते हैं। जन्मजात गुणों के आधार पर भी स्तरीकरण देखा जा सकता है।

2. समाजिक–सांस्कृतिक आधार

सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक–सांस्कृतिक आधार निम्न हैः

1. **संपत्तिः** संपत्ति के आधार पर समाज मुख्य रूप से दो भागों में बटा हुआ है, पहला गरीब एवं दूसरा अमीर समाज में वे लोग ऊंचे माने जाते हैं जिनके पास अधिक धन संपत्ति होती है। इसके विपरीत गरीब तथा संपत्तिहीन की स्थिति निम्न होती है। संपत्ति के घटने एवं बढ़ने के साथ–साथ समाज में व्यक्ति का स्तर भी घटता बढ़ता रहता है।

2. **व्यवसायः** समाज में कुछ व्यवसाय सम्मानजनक एवं ऊंचे माने जाते हैं तो कुछ निम्न माने जाते हैं। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, प्राध्यापक आदि का व्यवसाय बाल काटने वाले, कपड़े धोने वाले एवं चमड़े का काम करने वाले से श्रेष्ठ एवं सम्माननीय माना जाता है। इन व्यवसायों को करने वालों की स्थिति भी सामाजिक स्तरीकरण में ऊंची होती है।
3. **धार्मिक ज्ञानः** धर्म प्रधान समाज में धर्म भी सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग धार्मिक कर्मकांड में भाग लेते हैं, धार्मिक उपदेश देते हैं, धर्म के अध्ययन में निहित रहते हैं उन्हें सामान्य लोगों से ऊंचा माना जाता है, समाज के लोग उनके प्रति श्रद्धा रखते हैं।
4. **राजनीतिक शक्तिः** सत्ता एवं अधिकारों के आधार पर भी समाज में स्तरीकरण पाया जाता है। राजनीतिक आधार पर समाज दो वर्गों में बांटा हुआ है पहला शासक तो दूसरा शासित। शासक वर्ग की स्थिति शासित वर्ग से अधिक श्रेष्ठ एवं ऊंची होती है। यह स्थिति सभी समाज में पाई जाती है। प्रजातांत्रिक समाजों में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल के सदस्यों को अन्य दलों के सदस्यों की तुलना में अधिक अधिकार, शक्ति एवं सम्मान प्राप्त होता है।

सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप

सामाजिक स्तरीकरण के निम्न स्वरुप बताए गए हैंः

1. **दास प्रथाः** दास प्रथा असमानता के चरम रूप का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें व्यक्तियों के कुछ समूह पूर्ण रूप से अधिकारों से वंचित रहते हैं। इस प्रथा में किसी व्यक्ति को अपनी संपत्ति मानते हैं और खुद को उसका स्वामी, जिसके अधीन उसे रहकर कार्य करना पड़ता है। दास का कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होता। दास को अनिवार्य रूप से श्रम करना पड़ता है। यूनान एवं रोम में 18वीं और 19वीं सदी में प्रमुख रूप से इसका प्रचलन रहा है। दास सामाजिक रूप से वंचित होता है।

2. **जागीर प्रथाः** जागीर प्रथा का प्रचलन मध्ययुगीन यूरोप में रहा है। जागीर प्रथा में 3 वर्ग होते थे – पादरी, सरदार एवं जनसाधारण। प्रत्येक वर्ग की जीवन शैली एवं संस्कृति अलग थी। सामाजिक स्तरीकरण में सर्वोच्च स्थान पादरियों का था किंतु उन्हें कोई पद प्राप्त नहीं था, वे राजवंश के सरदारों के नीचे माने जाते थे। उनके बाद जनसाधारण को रखा गया था।
3. **जाति प्रथाः** जाति प्रथा को बंद स्तरीकरण भी कहा जाता है। जाति प्रथा भारतीय सामाजिक व्यवस्था में पाई जाने वाली संस्तरण का अनुपम स्वरूप है। जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिस की सदस्यता जन्मजात प्राप्त होती है। प्रत्येक जाति का एक नाम और एक व्यवसाय होता है। एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। प्रत्येक जाति की एक परंपरा एवं जीवन शैली होती है।
4. **सामाजिक वर्गः** सामाजिक वर्ग को खुला स्तरीकरण भी कहा जाता है। यह सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख स्वरूप है। सभी समाजों में वर्ग व्यवस्था पाई जाती है। यह सार्वभौमिक है। समान प्रस्थिति वाले व्यक्तियों के समूह को सामाजिक वर्ग कहा जाता है। वर्ग का आधार आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक भी होता है। एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का योग है जो समाज में अनिवार्य रूप से सामान सामाजिक स्थिति वाले होते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण के विषय में विभिन्न विद्वानों ने जो विचार व्यक्त किए हैं उन्हें सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत के नाम से जाना जाता है, जो निम्न है।

मैक्स वेबर के स्तरीकरण के सिद्धांत

मैक्स वेबर का मानना है कि समाज में पाई जाने वाली असमान व्यक्ति की एक संगठित अभिव्यक्ति सामाजिक स्तरीकरण है।

समाज के सभी सदस्यों में शक्ति का बंटवारा समान रूप से ना होकर असमान रूप से होता है, अर्थात् किसी को कम तो किसी को अधिक शक्ति प्राप्त होती है। समाज में एक समान शक्ति वाले समूह को वर्ग कहा जाता है। भिन्न–भिन्न वर्गों में शक्ति का विभाजन जिस रूप में होता है उसी के अनुसार समाज में सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न होता है। मैक्स वेबर का सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत यह कहता है कि शक्ति से तात्पर्य अवसर से है, जिससे एक या अनेक व्यक्ति अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए प्राप्त करते हैं। मैक्स वेबर ने तीन शक्तियों का उल्लेख किया है।

1. **आर्थिक क्षेत्र में स्तरीकरणः** मैक्स वेबर ने आर्थिक क्षेत्र में सामाजिक स्तरीकरण को आर्थिक शक्ति के वितरण के अनुसार बताया है। सामान आर्थिक हितों एवं समान आर्थिक शक्ति वाले व्यक्ति अपने एक वर्ग का निर्माण करते हैं। आर्थिक आधार पर समाज दो भागों में बांटा है, एक पूंजीपति वर्ग जिसके पास संपत्ति है, दूसरा संपत्तिहीन वर्ग जो सेवा कार्य में संलग्न रहता हैं। इन दोनों का भिन्न–भिन्न स्तर समाज में होता है जो सामाजिक संस्तरण के कारक हैं।
2. **सामाजिक क्षेत्र में स्तरीकरणः** मैक्स वेबर ने सामाजिक क्षेत्र में सामाजिक प्रस्थिति को सामाजिक स्तरीकरण का आधार माना है। समाज में जो व्यक्ति एक समान प्रस्थिति वाले होते हैं वह सभी एक सामाजिक वर्ग का निर्माण करते हैं। वे सभी एक ही समूह के सदस्य होते हैं। सामाजिक संरचना के अंतर्गत प्रत्येक प्रस्थिति समूह का अलग–अलग स्थान निर्धारित होता है। इसका निर्धारण समाज द्वारा किया जाता है। उच्च एवं निम्न प्रस्थिति समूह का निर्माण सामाजिक संरचना के आधार पर किया जाता है।
3. **राजनैतिक क्षेत्र में स्तरीकरणः** राजनैतिक क्षेत्र में किसी व्यक्ति की प्रस्थिति उसकी राजनीतिक शक्ति के आधार पर निर्धारित होती है। राजनीतिक शक्ति का प्राप्त होना उस राजनीतिक दल पर निर्भर करता है जिस दल का व्यक्ति सदस्य होता है। यदि कोई व्यक्ति

उस राजनीतिक दल का सदस्य है जिसकी सत्ता होती है तो उसका समाज में उच्च स्थान होगा। जिस राजनीतिक दल की सत्ता नहीं होगी उसका समाज में निम्न स्थान होता है। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में राजनीतिक शक्ति के आधार पर समूह की प्रस्थिति का निर्धारण होता है।

प्रकार्यवादी स्तरीकरण सिद्धांत

प्रकार्यवादी स्तरीकरण के सिद्धांत को किंग्सले डेविस एवं रेमंड मूरे ने प्रतिपादित किया है। डेविस का कहना है कि समाज के विभिन्न पदों के लिए विभिन्न बुद्धि एवं योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। जो पद सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं ऐसे पदों के लिए प्रतिभा एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। कुछ प्रशिक्षण खर्चीले एवं कठिन होते हैं, अतः उन्हें सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए इन पदों के लिए समाज सुविधा एवं पुरस्कार की व्यवस्था करता है। उदाहरण के लिए डॉक्टर, इंजीनियर, आईएस के पद महंगे एवं अधिक परिश्रम के बाद प्राप्त होते हैं, बजाय अध्यापक या चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी के पद के। अतः इन पदों के लिए समाज द्वारा अधिक वेतन एवं सुविधाओं की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार समाज में कुछ लोगों को अधिक पुरस्कार एवं सुविधाएं प्रदान की जाती है और कुछ को कम तो समाज में स्वतः ही स्तरीकरण पैदा हो जाता है। यह सिद्धांत बंद समाज एवं खुला समात दोनों पर लागू होता है, क्योंकि स्तरीकरण व्यक्तियों का नहीं पदों का क्रमविन्यास होता है। इस सिद्धांत को पुरस्कार के सिद्धांत के नाम से भी जाना जाता है।

मार्क्सवादी स्तरीकरण का सिद्धांत

कार्ल मार्क्स का यह सिद्धांत वर्ग की अवधारणा पर आधारित है। मार्क्स का विचार है कि समाज में स्तरीकरण का मूल कारण उत्पादन तथा आर्थिक शक्तियां हैं। आर्थिक संरचना सामाजिक संरचना का निर्माण करती है। वर्ग व्यवस्था से समाज में मुख्यतः 2 वर्ग विकसित होते हैं, एक

पूंजीपति वर्ग जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होता है, दूसरा सर्वहारा वर्ग जो अपना श्रम बेचकर जीविका चलाते हैं, उत्पादन के साधनों पर उनका कोई अधिकार नहीं होता है। समाज पूंजीपति एवं श्रमिक दो समूहों में विभाजित रहता है। इन दोनों वर्ग में संघर्ष चलता रहता है। मार्क्स ने इसी के आधार पर वर्ग संघर्ष सिद्धांत दिया है। इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय एवं वर्ग विहीन समाज की स्थापना होगी, जिसके कारण सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण उत्पादन की प्रक्रिया है जिससे समाज में व्यवस्था विकसित होती है। मार्क्स का मानना है कि समाज के प्रारंभिक अवस्था में वर्ग विभेद नहीं था। पूंजीवादी युग में यह व्यवस्था बढ़ी एवं वर्ग संघर्ष का जन्म हुआ। इस सिद्धांत को संघर्ष वादी सिद्धांत भी कहा जाता है।

फ्रैंकपार्किंग का सिद्धांत

पार्किंग ने अपनी वर्ग संबंधी विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक समापन की अवधारणा प्रस्तुत की। पार्किंग ने बताया कि पेशे के आधार पर ही वर्ग का निर्धारण होता है, लेकिन वर्ग संरचना की रीढ़ पेशागत संरचना है और कहा है कि जो व्यक्ति जैसा करता है उसके विचार उसी भाँति होते चले जाते हैं। सामाजिक स्तरीकरण में प्रायः 6 वर्ग पाए जाते हैं जिनका फैलाव उच्चतम वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक होता है। यह 6 वर्ग इस प्रकार हैः

1. उच्च वर्ग – उच्चतम वर्ग, निम्नतम उच्च वर्ग,
2. मध्यमवर्ग – मध्यम उच्च वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग
3. निम्न वर्ग – निम्न उच्च वर्ग, निम्नतम निम्न वर्ग

वेबलन का सिद्धांत

वेबलन ने समाज को दो वर्गों में विभक्त किया है, प्रथम वह जो अनुत्पादक होते हुए भी अपनी आर्थिक शक्ति के कारण विलास की वस्तुओं का उपभोग करता है, द्वितीय वह जो उत्पादन कार्य में लगा होने के बाद

भी क्षीण आर्थिक स्थिति के कारण इच्छा अनुसार उपभोग करने में असमर्थ होता है। अतः समाज में दो लोग पनपते हैं जो स्तरीकरण को जन्म देते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं

समाजिक स्तरीकरण की कुछ विशेषताएं निम्न हैः

1. सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है, यह कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है वरन संपूर्ण समाज में व्याप्त है।
2. सामाजिक स्तरीकरण को समझने के लिए समाज में व्यक्तियों को प्राप्त पदों एवं परिस्थितियों को जानना होगा।
3. सामाजिक स्तरीकरण प्राचीनतम पद्धति है। प्रत्येक युग में स्तरीकरण सदैव विद्यमान रहा है।
4. सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है, इसके आधार एवं स्वरूप में अंतर हो सकता है लेकिन यह सभी स्थानों पर पाया जाता है।
5. सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न स्वरूप हैं। प्रत्येक युग में स्वरूपों के आधार पर स्तरीकरण पाया गया है।
6. सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक एवं सांस्कृतिक दोनों होती है।
7. सामाजिक स्तरीकरण गतिशील होता है, आज जो पद प्राप्त है वह कल परिवर्तित हो सकता है।
8. सामाजिक स्तरीकरण एक परिणामिक प्रक्रिया है। समाज की संरचना एवं उन्नति के परिणाम स्वरूप स्तरीकरण पाया जाता है।
9. सामाजिक स्तरीकरण में व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार विभिन्न स्तरों में विभक्त किया जाता है, ताकि सामाजिक व्यवस्था बनी रहे।
10. सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण सामाजिक विभेदीकरण है, जिससे समाज में लोगों में विभिन्नता उत्पन्न होती है।

11. सामाजिक स्तरीकरण में जो भी विभाजन होता है उसमें उच्चता एवं निम्नता को आधार माना जाता है।
12. सामाजिक स्तरीकरण में आपसी संबद्धता पाई जाती है। इसके कारण समाज के विभिन्न स्थाई समूह एवं श्रेणियां उच्चता एवं अधीनता के संबंध द्वारा आपस में जुड़ी रहती है।

सामाजिक स्तरीकरण समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक स्तरीकरण की सार्वभौमिकता सभी कालों में रही है। हम भारतवर्ष की बात करें तो यहां हिंदू समाज का 4 वर्गों में विभाजन हुआ है – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, एवं अलग–अलग जातियों में खंडात्मक विभाजन सामाजिक स्तरीकरण का ही उदाहरण है। पश्चिमी समाजों का पूंजीपति एवं सर्वहारा वर्ग में विभाजन सामाजिक स्तरीकरण का ही उदाहरण है। दूसरे शब्दों में सामाजिक स्तरीकरण समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने और उसी के अनुसार सामाजिक संरचना में उनकी भूमिका तथा स्थिति का निर्धारण करने की व्यवस्था है। समाज के सभी स्तर के लोग एक दूसरे के लिए उपयोगी होते हैं। यही कारण है कि सभी की आवश्यकता किसी न किसी स्तर के सहयोग से पूर्ण होती है।

––==00==––

सामाजिक गतिशीलता

भूमिका

सामाजिक जीवन में हम देखते हैं कि कितने ही व्यक्ति एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरे व्यवसाय को, एक वर्ग को छोड़कर दूसरे वर्ग को, एक संगठन की सदस्यता छोड़कर दूसरे संगठन की सदस्यता स्वीकार कर लेते हैं। व्यक्ति एक नगर को छोड़कर दूसरे नगर में निवास करने लगता है। एक लिपिक अपने प्रयत्नों से अध्ययन करके प्रशासनिक अधिकारी बन जाता है। एक सामान्य मजदूर मेहनत करके पूंजीपति बन जाता है। यह परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता के नाम से प्रचलित है। किसी व्यक्ति समूह की सामाजिक स्थिति या पद में परिवर्तन होना ही सामाजिक गतिशीलता है। यह समाजशास्त्र की एक प्रमुख विषय वस्तु है। सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन के द्वारा हम सामाजिक संस्तरण एवं सामाजिक ढांचे में होने वाले परिवर्तन और उसकी गति को ज्ञात कर सकते हैं और सामाजिक उन्नति का मापन भी इसी गति से संभव है। गतिशीलता से तात्पर्य व्यक्ति का स्थान ऊंचा होना ही नहीं अपितु व्यक्ति का अपने स्थानीय पद से नीचे चला जाना भी सामाजिक गतिशीलता की श्रेणी में आता है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति, समूह या श्रेणी की प्रतिष्ठा में परिवर्तन होना ही सामाजिक गतिशीलता है।

सामाजिक गतिशीलता का अर्थ

सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है व्यक्ति का एक सामाजिक स्थिति से हटकर दूसरे सामाजिक स्थिति में चले जाना। एक विशिष्ट प्रकार के ढांचे में जब कोई व्यक्ति अपने वर्तमान पद को त्याग कर उसी सामाजिक ढांचे में अन्य कोई सामाजिक पद ग्रहण करता है तो वह सामाजिक गतिशीलता कहलाती है। सामाजिक ढांचे में पद या स्थिति ऊंची–नीची होती रहती है। इसलिए व्यक्ति अपनी इच्छा या योग्यता के आधार पर सामाजिक पदों में से किसी भी ऊंचे या नीचे पद को प्राप्त करता है। यह परिस्थिति सामाजिक गतिशीलता कही जाती है।

सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा

विद्वानों द्वारा दी गई सामाजिक गतिशीलता की परिभाषाएं निम्न हैः

बोगार्डस के अनुसार, ''सामाजिक स्थिति में कोई भी परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है।''

मिलन एवं बुक के अनुसार, ''सामाजिक गतिशीलता व्यक्तियों या समूह का एक सामाजिक ढांचे से दूसरे सामाजिक ढांचे में संचलन है।''

सोरोकिन के शब्दों में, ''सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है सामाजिक समूह तथा स्तर के पूंज में किसी व्यक्ति का एक सामाजिक स्थिति से दूसरे सामाजिक स्थिति में पहुंच जाना।''

फीचर के शब्दों में, ''सामाजिक गतिशीलता व्यक्ति, समूह या श्रेणी के एक सामाजिक पद या स्तृत से दूसरे में गति करने को कहते हैं।''

परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक गतिशीलता एक सामाजिक स्थिति से दूसरे सामाजिक स्थिति में होने वाला परिवर्तन है, जो शिक्षा, व्यवसाय, आय, सामाजिक शक्ति एवं सामाजिक वर्ग इनमें से कुछ अथवा सभी क्षेत्रों में हो सकता है। व्यक्ति उच्च स्थान भी प्राप्त कर सकता है और निम्न स्थान में भी आ सकता है।

सामाजिक गतिशीलता का स्वरूप

समाज में सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न स्वरूप विद्यमान है जिसका वर्णन निम्नलिखित हैः

1. **क्षैतिज गतिशीलताः** जब कोई व्यक्ति अपना व्यवसाय बदल लेता है, लेकिन उसकी समग्र सामाजिक स्थिति अपरिवर्तित रहती है तो उसे क्षैतिज गतिशीलता कहा जाता है। इस प्रकार की गतिशीलता को समस्तरी गतिशीलता भी कहा जाता है। व्यक्ति के स्थान परिवर्तन से पद या प्रतिष्ठा में कोई परिवर्तन नहीं होता है, जैसे कोई डॉक्टर चिकित्सा या अभ्यास करने के लिए मेडिकल स्कूल में

पढ़ाने जाता है तो व्यवसाय एवं सामाजिक स्थिति सामान रहती है, यह गतिशीलता एक स्तर से दूसरे स्तर पर हस्तांतरण है। सोरोकिन ने इस गतिशीलता को धार्मिक, राजनीतिक, क्षेत्रीय या अन्य क्षैतिज बदलावों में परिवर्तन के रूप में वर्णित किया है, जिसमें उर्ध्वाकार स्थिति में कोई बदलाव नहीं होता है।

2. **लंबवत गतिशीलताः** इसे उदग्र या रैखिक या विषम स्तरीय गतिशीलता भी कहा जाता है। इसमें व्यक्ति या समूह एक सामाजिक पद या स्थिति से दूसरे सामाजिक पद या स्थिति में गमन करता है। इसमें पद एवं स्थिति में परिवर्तन होता है, यह उच्चता की ओर भी हो सकता है और निम्नता की ओर भी हो सकता है। जैसे एक लखपति व्यक्ति जुए में हार कर दिवालिया हो जाता है अथवा एक मजदूर लॉटरी जीतकर लखपति बन जाता है। इस प्रकार की गतिशीलता आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और व्यवसायिक आदि क्षेत्रों में देखने को मिलती है। सोरोकिन ने इस प्रकार की गतिशीलता को दो भागों में बांटा है।

- **आरोही या उर्ध्वगामी गतिशीलताः** इस प्रकार की गतिशीलता में व्यक्ति अपने पद एवं स्थिति से उच्च स्थान प्राप्त करता है। जैसे किसी निर्धन का धनवान बन जाना, किसी व्याख्याता का रीडर बन जाना, रीडर का प्रोफेसर बन जाना आदि। भारत में कुछ जातियाँ धर्म परिवर्तन करके ऊंचा उठने का प्रयास करती है।
- **अवरोही या अधोगामी गतिशीलताः** जब कोई व्यक्ति या समूह ऊँचे स्थान या पद से नीचे स्थान या पद पर आ जाता है, तो उसे अवरोही या अधोगामी गतिशीलता कहते हैं। जैसे किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति या व्यापारी का नुकसान होने के कारण निर्धन हो जाना या दिवालिया घोषित हो जाना, जिसके परिणाम स्वरूप समाज की निम्न स्थिति में आ जाना। इसमें गति ऊपर से नीचे की ओर होती है।

3. **अंतर–पीढ़ीगत गतिशीलताः** अंतर–पीढ़ीगत गतिशीलता तब होती है जब सामाजिक स्थिति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बदल

जाती है। परिवर्तन ऊपर या नीचे हो सकता है। जैसे एक पिता एक कारखाने में कार्य करता था, जबकि उसके बेटे ने एक ऐसी शिक्षा प्राप्त की जिसने उसे डॉक्टर या इंजीनियर बनने की अनुमति दी।

इसी तरह के सामाजिक परिवर्तन के कारण नई पीढ़ी भी जीने और सोचने का एक नया तरीका अपनाती है। अंतर–पीढ़ी की गतिशीलता माता–पिता और उनके संतानों के पालन पोषण में अंतर, जनसंख्या में परिवर्तन और व्यवसाय में परिवर्तन से प्रभावित होती है।

4. **व्यक्तिगत एवं सामूहिक गतिशीलताः** सामाजिक गतिशीलता की इकाई को ध्यान में रखते हुए गतिशीलता को व्यक्तिगत एवं सामूहिक गतिशीलता के रूप में भी समझा जा सकता है। एक समूह से दूसरे समूह की सदस्यता ग्रहण करने से व्यक्तिगत गतिशीलता में परिवर्तन आता है। उसी प्रकार कभी–कभी सामूहिक प्रयासों से पूरे समूह के हितों में भी वृद्धि का प्रयास किया जाता है। श्रम संघों के माध्यम से श्रमिकों के लिए अधिक वेतन एवं अधिक सुविधाएं प्राप्त करने का प्रयास करना एवं सफल होना सामूहिक गतिशीलता का उदाहरण है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति एक सामाजिक इकाई है, व्यक्ति विशेष के पद एवं स्थिति में परिवर्तन होना व्यक्तिगत गतिशीलता है तथा एक समूह या संघ के सभी के हितों में वृद्धि होना सामूहिक गतिशीलता है।

सामाजिक गतिशीलता की विशेषताएं

सामाजिक गतिशीलता की निम्नलिखित विशेषताएं हैः

1. सामाजिक गतिशीलता एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो प्रत्येक समाज में पाई जाती है। किसी समाज में गतिशीलता के अवसर कम होते हैं तो किसी समाज में अधिक।
2. सामाजिक गतिशीलता सामाजिक स्थिति में परिवर्तन को दर्शाती है।
3. सामाजिक गतिशीलता व्यक्तियों या समूहों के निजी प्रयास पर निर्भर नहीं करता अपितु सामाजिक संरचना का भी प्रतिफल है,

क्योंकि सामाजिक संरचना ही गतिशीलता के अवसर प्रदान करती है।

4. सामाजिक गतिशीलता को मापना एक जटिल कार्य है क्योंकि इसमें दो परिवर्तनों में स्थितियों की तुलना करना काफी कठिन कार्य है।
5. सामाजिक गतिशीलता के दो पक्ष हैः वस्तुनिष्ठ तथा व्यक्तिनिष्ठ।
6. सामाजिक गतिशीलता समाज के व्यक्ति एवं समूह दोनों या दोनों में से किसी एक की प्रस्थिति में हो सकता है।
7. सामाजिक गतिशीलता में दिशा समय और संदर्भ तीनों ही तत्व निहित होते हैं। दिशा की दृष्टि से ऊपर या नीचे की ओर यह समांतर हो सकती है। समय की दृष्टि से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हो सकती है।
8. सामाजिक गतिशीलता का संबंध परिस्थिति से भी होता है। आयु एवं धन में वृद्धि के साथ गतिशीलता में भी वृद्धि होती है।
9. सामाजिक गतिशीलता से पद में परिवर्तन आता है। यदि कोई नीची जाति का व्यक्ति अपनी मेहनत से ऊंचा पद प्राप्त करता है तो पद के साथ जुड़े सम्मान उसे प्राप्त हो जाते हैं।
10. सामाजिक गतिशीलता राजनीति से भी संबंधित है। एक जनतांत्रिक समाज में यह आशा की जाती है कि गतिशीलता के अवसर बिना भेदभाव के सभी को प्राप्त हो सके।

अतः सामाजिक गतिशीलता से आशय व्यक्ति अथवा समूह की प्रस्थिति में परिवर्तन से होता है। पिछले 50 वर्षों में गतिशीलता के दर में ज्यादा वृद्धि पाई गई है। आधुनिक एवं सभी समाज में गतिशीलता अधिक मात्रा में होती है। प्रायः व्यवसायिक क्षेत्र एवं सामाजिक वर्ग में गतिशीलता अधिक होती है। समाज में यह भी देखा गया है कि आरोही क्रम में गतिशीलता अधिक एवं अवरोही क्रम में गतिशीलता कम देखने को मिलती है। सामाजिक गतिशीलता एक सामाजिक तथ्य है। किसी व्यक्ति या समूह में बदलाव आना मात्र गतिशीलता नहीं है, वरन् सामाजिक परिवर्तन का

कारक होना भी गतिशीलता के अंतर्गत आता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना गतिशीलता तो है परंतु एक ही स्थान पर रहकर पद एवं प्रतिष्ठा में परिवर्तन होना भी गतिशीलता के अंतर्गत आता है।

––==00==––

इकाई 4

सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन

भूमिका

परिवर्तन प्रकृति का नियम है जो अटल एवं शाश्वत है। जो नियम आज है वह कल से भिन्न होगा। इस संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थिर है, उसमें कुछ ना कुछ परिवर्तन हमेशा होता रहता है। समाज में भी भिन्न–भिन्न कारकों से परिवर्तन होता रहता है। सभी काल खंडों में समाज में परिवर्तन आया है। सामाजिक परिवर्तन से समाज की संरचना एवं कार्य प्रणाली का भी नया जन्म होता है। समाज में परिवर्तन के अंतर्गत प्रस्थिति, वर्ग, स्तर तथा व्यवहार के अनेकानेक प्रतिमान बनते एवं बिगड़ते हैं। प्राकृतिक एवं मानवीय कारकों से समाज में परिवर्तन आता है। कुछ सामाजिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से नजर आते हैं, तो कुछ अनुभव के द्वारा समझा जाता है। परिवर्तन समाज के सभी क्षेत्रों में आ सकता है सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, भौतिक आदि। परिवर्तन समाज के संपूर्ण ढांचे में आ सकता है या समाज के किसी विशेष पक्ष तक भी सीमित हो सकता है। आधुनिक संसार में प्रत्येक क्षेत्र में विकास हुआ है तथा सभी समाजों ने अपने तरीके से इन विकासों को स्वीकार किया है, जो सामाजिक परिवर्तन के रूप में परिलक्षित होता है। यदि समाज में परिवर्तन नहीं आता तो हम आज भी आदिमानव के रूप में ही भ्रमण करते रहते।

समाज निरंतर गतिशील रहता है। इसी का परिणाम है कि आज हमारे समाज की रचना और स्वरूप में भी परिवर्तन आ गया है। आज का समाज एक 100 वर्ष पूर्व के समाज से या 1000 वर्ष पूर्व के समाज से बहुत भिन्न है। इस अंतराल में जो परिवर्तन हुए हैं उस में बहुत अंतर दिखाई पड़ता है, यह अंतर ही सामाजिक परिवर्तन है। किसी समाज में तीव्र गति से परिवर्तन होता है, तो किसी समाज में धीमी गति से। यह गति समाज की संरचना, आवश्यकता एवं क्रियाओं पर निर्भर करती है। सामान्यता समाज हमेशा आगे की ओर बढ़ता है। इसमें हुआ परिवर्तन प्रगति का ही सूचक है।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

साधारण शब्दों में परिवर्तन का अर्थ किसी वस्तु या क्रिया का बदल जाना है, परंतु जब समाज की संरचना में परिस्थितियों में, विचारों एवं क्रियाओं में परिवर्तन आता है, तो उसे सामाजिक परिवर्तन माना जाता है। परिवर्तन दो शब्दों से मिलकर बना है – समाज और परिवर्तन। समाज का अर्थ मात्र व्यक्तियों या समूह ही नहीं है, समाज में रहने वाले व्यक्तियों के आपसी संबंधों से भी है। समाज की पहली–पहली की स्थिति एवं बाद की स्थिति में बदलाव का आ जाना ही सामाजिक परिवर्तन है।

सामाजिक संगठन, सामाजिक ढाँचा, सामाजिक संबंधों या समाज के रहन–सहन के ढंग, रीति–रिवाजों, मूल्यों और विश्वासों आदि में जो अंतर आ जाता है, वही सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। समाज की आवश्यकताओं में बदलाव आना एवं आवश्यकता के अनुरूप विचारों तथा क्रियाओं में बदलाव आना सामाजिक परिवर्तन माना जाता है।

सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा

सामाजिक परिवर्तन की कतिपय परिभाषा निम्न प्रकार से हैः

जॉनसन के अनुसार, ''व्यक्तियों के कार्य करने एवं विचार करने के ढंग में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।''

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, ''सामाजिक ढांचे में होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।''

बाटोमोर के अनुसार, ''सामाजिक संरचना सामाजिक संस्थाओं और उनके पारस्परिक संबंधों में घटित होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।''

किंग्सले डेविस के अनुसार ''सामाजिक परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उन भिन्नताओं से है जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढांचे एवं कार्यों में उत्पन्न होती है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन समाज के ढांचे, संबंधों एवं विचारों में बदलाव को कहते हैं। ढांचे

में परिवर्तन होने से ही विचारों एवं मूल्य में भी परिवर्तन आ जाता है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रकार

विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन के निम्न प्रकारों का उल्लेख किया हैः

1. **उद्विकासः** डार्विन ने प्राणी की शारीरिक रचना में होने वाले परिवर्तन को उद्विकास का नाम दिया है। इसी के आधार पर सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक उद्विकास माना गया है। उद्विकास वह परिवर्तन है जो किसी वस्तु के आंतरिक तत्व के कारण एक क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा उस वस्तु का रूप बदल देता है। इस प्रकार का परिवर्तन एक निश्चित दिशा की ओर होता है। ऐसे परिवर्तन प्रारंभ में अनुच्छेद प्रकृति के होते हैं, परंतु धीरे–धीरे उनका रूप स्पष्ट होने लगता है। उद्विकास एक निरंतर, निश्चित दिशा में गुणात्मक परिवर्तन है। इससे ढांचे एवं कार्य में भिन्नता आती है। उदाहरण के लिए समाज में विवाह जैसी कोई संस्था विद्यमान नहीं थी। सभी स्त्री एवं पुरुष स्वतंत्र थे। दूसरे स्तर पर एक स्त्री अनेक पुरुषों से विवाह कर परिवार की स्थापना करना आरंभ की। समाज में पुरुष शक्ति अधिक होने के कारण बहू पत्नी विवाह का आरंभ हुआ। बाद में नैतिक नियमों का प्रभाव बढ़ने के कारण एक विवाह को प्रधानता दी जाने लगी। यह विवाह संस्था में होने वाला परिवर्तन है, जिसे उद्विकास कहा जा सकता है। इस प्रकार समाज के आर्थिक अवस्थाओं में पशु चारण, कृषि एवं उद्योग का प्रारंभ होना उद्विविकास के अंतर्गत आता है।
2. **प्रगतिः** प्रगति सामाजिक परिवर्तन का ही एक रूप है जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्यों की दिशा में होता है। यदि कोई परिवर्तन लक्ष्य की ओर है लेकिन वह लक्ष्य भी समाज विरोधी है तो ऐसे परिवर्तन को प्रगति नहीं कहा जा सकता है। प्रगति का तात्पर्य समाज में अच्छे एवं विकास के लिए होने वाले परिवर्तन से है। प्रगति के रूप में होने वाले परिवर्तन गुणात्मक भी हो सकते हैं और परिणात्मक भी। प्रगति से समाज को हमेशा लाभ प्राप्त हुआ है,

क्योंकि प्रगति नियोजित होती है। प्रगति मानवीय सुखों में वृद्धि करती है। प्रगति का संबंध सामाजिक मूल्यों और आदर्शों से है। वर्तमान युग में प्रगति का संबंध मुख्यत या उन परिवर्तनों से जो समाज, संस्कृति और अर्थव्यवस्था में योजनाबद्ध रूप से लाए गए हैं। प्रगति का माप संभव है।

3. **विकासः** विकास परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसमें विभेदीकरण की वृद्धि होती है तथा यह सदैव ऊपर की ओर होता है। विकास के रूप में होने वाला परिवर्तन उद्विविकास और प्रगति से भिन्न होता है। तात्पर्य है कि नई तकनीक की सहायता से जब हम उत्पादन एवं आर्थिक विकास की दिशा में आगे बढ़ते हैं तब इस परिवर्तन को विकास कहा जाता है। विकास शब्द का प्रयोग एक ऐसी दशा के लिए किया जाता है जिसमें मनुष्य अपने ज्ञान और कुशलता के द्वारा आर्थिक वृद्धि करता है। यह परिवर्तन मुख्य रूप से आर्थिक क्षेत्र में ही परिलक्षित होता है।

4. **क्रांतिः** क्रांति में परिवर्तन का क्रम तीव्र गति से होता है। इसमें पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था स्थापित की जाती है। यह सामाजिक परिवर्तन का एक विशेष प्रकार है। क्रांति आकस्मिक रूप से होने वाला परिवर्तन है, जो समाज की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संपूर्ण व्यवस्था को बदल देता है। विद्वानों के अनुसार क्रांति कई घटनाओं की एक कड़ी नहीं वरन् एक बड़े पैमाने पर विशाल जन आंदोलन है, जिसका उद्देश्य सामाजिक सुधार एवं परिवर्तन होता है। क्रांति एक विशेष समय में स्थापित राजनीतिक व्यवस्था को बलपूर्वक बदल कर एक कानूनी और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना कर देती है। क्रांति से समाज में विघटन, सत्ता परिवर्तन, जन–धन की हानि भी हो सकती है, समाज की उन्नति हो यह आवश्यक नहीं होता है। क्रांति का परिणाम अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी।

5. **अनुकूलनः** अनुकूलन की प्रक्रिया में भी सामाजिक परिवर्तन का

विशेष रूप देखने को मिलता है। यह वह परिवर्तन है जिसमें एक दूसरे से अलग धर्म, भाषा, संस्कृति और क्षेत्रों के लोग अपने आपको बदली हुई दशाओं के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करते हैं। मानव सभ्यता का संपूर्ण इतिहास अनुकूलन के रूप में होने वाले परिवर्तन का इतिहास रहा है। समाज में सहयोग तथा अपने में अलग संस्कृति को अपनाना अनुकूलन के ही रूप है। विभिन्न जीवधारी अपने पर्यावरण से अनुकूलन स्थापित करते हैं। समाज में भी अनुकूलन के द्वारा ही व्यक्ति अपना संपूर्ण विकास कर सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के कारक

किसी भी समाज में परिवर्तन किसी न किसी कारण से होता है। एक या एक से अधिक कारक सामाजिक परिवर्तन के हो सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन के सभी कारक निम्न हैः

1. **प्राकृतिकः** प्रकृति परिवर्तन का मुख्य कारक है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, भूकंप एवं महामारी के कारण समाज में अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होती है। इन समस्याओं के समाधान करने के लिए सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करना होता है। भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित है। प्राकृतिक आपदा के कारण लोग आजीविका के साधन खोजने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवास करते रहते हैं। एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में बस जाते हैं। वहां की जीवन शैली को अपना लेते हैं, तब भी सामाजिक परिवर्तन आता है।
2. **जैविकीय कारकः** सामाजिक परिवर्तन अनेक जैविकीय कारकों से भी होता है। जिन समाजों में स्त्री और पुरुषों का अनुपात सामान नहीं होगा, पुरूष अधिक और स्त्रियाँ कम होने से बहु–पति प्रथा का प्रचलन होगा। स्त्रियों के अधिक होने से बहु–पत्नी प्रथा का चलन होगा। दोनों ही प्रचलन समाज में अनेकों समस्याओं को उत्पन्न करते हैं। जाति एवं प्रांतीय बंधन भी शिथिल होते जा रहे हैं, जिससे

समाज में परिवर्तन आता है। समाज में वृद्धों की संख्या अधिक और युवाओं की संख्या कम होने से भी सामाजिक परिवर्तन आता है। इसकी विपरीत परिस्थिति में भी सामाजिक परिवर्तन होता है

3. **आर्थिक कारकः** समाज में शिकारी अवस्था से कृषि अवस्था तक कई महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। औद्योगिक अवस्था में आने से सामाजिक जीवन में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। अर्थव्यवस्था के बढ़ने से सामाजिक एवं राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। यह भी सामाजिक परिवर्तन का ही कारक है। आज कृषि प्रधान देश औद्योगिक समाज में परिवर्तित हो रहा है।

4. **सांस्कृतिक कारकः** मैक्स वेबर ने सामाजिक परिवर्तन का मूल स्रोत सांस्कृतिक परिवर्तन को ही माना है। मनुष्य का सामाजिक जीवन विश्वास, धर्म, आदर्श, प्रथाएं, रूढ़ियाँ आदि पर निर्भर करता है। समाज में संबंधों एवं संस्थाओं में गहन संबद्धता पाई जाती है। व्यक्ति का सामाजिक जीवन इन्हीं पर निर्भर करता है। पहले विवाह एक धार्मिक क्रिया माना जाता था, लोग इसे तोड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, परंतु वर्तमान में विवाह–विच्छेद अधिक होने लगे हैं जिससे समाज में कई प्रकार के बदलाव आने लगे हैं। वेशभूषा, खान–पान, रहन–सहन, रीति–रिवाज में भी परिवर्तन आ रहे हैं। लोग इनमें भी बदलाव कर रहे हैं। एक संस्कृति के साथ ही कई संस्कृतियों को अपना रहे हैं।

5. **जनसंख्यात्मक कारकः** जनसंख्या में परिवर्तन, जन्म दर और मृत्यु दर के घटने बढ़ने के कारण भी सामाजिक परिवर्तन होता है। देशांतरण की प्रकृति के कारण भी सामाजिक परिवर्तन होता है। जनसंख्या की वृद्धि एवं कमी दोनों समाज के लिए हितकर नहीं है। इसलिए जनसंख्यात्मक कारक भी सामाजिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी देश की आर्थिक दशा गिरती है तो परिवारों का आकार घटता है। पारिवारिक संबंध में परिवर्तन होता है। जनसंख्या बढ़ने से गरीबी बढ़ती है। संसाधनों की कमी हो

जाती है। इस कारण से समाज में परिवर्तन आता है। बेरोजगारी, अपराध जैसी सामाजिक बुराइयों में वृद्धि हो जाती है। प्रदूषण बढ़ जाता है।

6. **प्रौद्योगिकी कारकः** आज का युग प्रौद्योगिकी का युग है। किसी भी नई मशीन का या यंत्र का जैसे ही आविष्कार होता है उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य पड़ता है। मशीनों के अविष्कार से बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगता है, जिससे श्रम विभाजन, विशेषीकरण की आवश्यकता हुई है। गांव का नगरीकरण होने लगा है। जीवन स्तर उच्च हुआ है तथा जीवन शैली में भी परिवर्तन आया है। धर्म का प्रभाव घटा है, संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ है, स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुआ है। गंदी बस्तियों का विकास हुआ है। संघर्ष और प्रतिस्पर्धा में वृद्धि हुई है। मनुष्य प्रकृति से दूर एवं भौतिक साधनों का आदी होता जा रहा है। इन सभी कारणों से समाज में परिवर्तन आया है।

7. **राजनीतिक कारकः** समाज में अधिकांश परिवर्तन राजनीतिक कारणों से होते हैं। राजनीतिक स्थिरता से समाज में निरंतरता एवं स्थायित्व आता है, जबकि राजनीतिक उथल–पुथल समाज में अस्थिरता के कारण बनते हैं। दोनों ही परिस्थितियों में सामाजिक परिवर्तन होता है। हिटलर का अधिनायकवाद, भारत का विभाजन, साम्यवादी क्रांति आक्रमण, कश्मीर समस्या आदि ने विभिन्न सामाजिक परिवर्तन को जन्म दिया। स्वतंत्र भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था, चुनावों में रुचि, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक समस्या यह सभी सामाजिक परिवर्तन के कारण बने हैं।

8. **कानूनः** सरकार द्वारा बनाए गए कानून एक तरफ सामाजिक नियंत्रण बनाने में मददगार होते हैं, वहीं दूसरी तरफ सामाजिक परिवर्तन में भी सहायक होते हैं। कानून के द्वारा समाज की बुराइयों का अंत होता है और सामाजिक नियमों की रक्षा होती है। भारतवर्ष में कानून द्वारा जमीदारी प्रथा का अंत, बाल विवाह, बहुविवाह, सती

प्रथा, छुआछूत को समाप्त करके देश में सामाजिक जीवन में व्यापक परिवर्तन लाए गए हैं। लोगों को कानून के द्वारा ही इन बुराइयों के बारे में समझाया जा सकता है। वरन् सामाजिक बुराई को खत्म करना दुष्कर कार्य है। कानून बनाकर लागू किया जाए तो ही वे मानने के लिए बाध्य होते हैं। इसलिए कानून किसी भी समाज में परिवर्तन लाने में एक महत्वपूर्ण साधन है।

9. **धर्मः** समाज और मनुष्य पर धर्म सामाजिक परिवर्तन का कारक है। धर्म का नियंत्रण हमेशा से समाज और व्यक्ति पर रहा है। भारतीय समाज में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज और धार्मिक आंदोलनों ने भारतीय जीवन में अनेकों परिवर्तन लाए हैं। आजादी के बाद भारतीय संविधान ने धर्मनिरपेक्षता को अपना आदर्श माना है और उसका प्रभाव जनसमुदाय पर भी पड़ा है। धार्मिक सत्संग, धार्मिक प्रवचन और साधु महात्माओं ने भी विचारों में बहुत परिवर्तन लाए हैं। धार्मिक एवं अधार्मिक व्यक्ति के जीवन शैली में भी कई अंतर एवं परिवर्तन देखने को मिलते हैं। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों द्वारा भी समाज में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया है।

उद्विकास

डार्विन के प्राणीशास्त्रीय उद्विकास के सिद्धांत के आधार पर अनेक मानवशास्त्रीयों ने समाज तथा संस्कृति के विकास को समझने का प्रयास किया। उनका मानना है कि जिस प्रकार प्राणीशास्त्री शरीर का उद्विकास कुछ निश्चित नियमों के आधार पर होता है, उसी प्रकार समाज और संस्कृति का विकास भी हुआ है। शाब्दिक अर्थ में किसी वस्तु के फैलने एवं बढ़ने की प्रवृत्ति ही उद्विकास मानी जाती है। उद्विकास का अर्थ इस प्रकार के फैलाव से है जिससे एक सरल वस्तु का धीरे–धीरे एक जटिल अवस्था में बदल जाना अर्थात् जब कुछ निश्चित स्तरों में से गुजरती हुई कोई सरल वस्तु ऐ जटिल वस्तु में परिवर्तित हो जाती है तो इसे उद्विकास कहते हैं। यह परिवर्तन अनेक स्तरों के माध्यम से होता है और प्रत्येक

परिवर्तन के साथ उस वस्तु का रूप जटिल होता जाता है। समाज भी प्रारंभिक अवस्था में सरल एवं सीधा था, किंतु विकास के बाद समाज में कुछ जटिल परिवर्तन आए हैं।

उद्विकास की परिभाषा

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, 'जब परिवर्तन में निरंतरता ही नहीं होती बल्कि दिशा भी होती है तब हम उसे सामाजिक उद्विकास कहते हैं।''

ऑगबर्न तथा निम्कॉफ के अनुसार, ''उद्विकास केवल मात्र एक निश्चित दिशा में परिवर्तन है''

अतः स्पष्ट है कि सामाजिक उद्विकास सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख स्वरूप है। उद्विकास परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके अनुसार किसी वस्तु के आंतरिक तत्व अपने आप प्रकट होकर उस वस्तु का रूप बदल देते हैं, जिससे सरल वस्तु जटिल हो जाती है और धीरे–धीरे वस्तु का बाह्य स्वरूप ही बदल जाता है।

सामाजिक उद्विकास के विभिन्न स्तर

मॉरगन ने मानव समाज के उद्विकास के तीन प्रमुख स्थलों का उल्लेख किया है, जो निम्न हैः

1. **जंगली अवस्थाः** जंगली अवस्था मानव समाज की प्रारंभिक अवस्था थी। इस अवस्था में मनुष्य जंगली था कंदमूल खाकर जीवन यापन करता था। गुफाओं तथा वृक्षों पर अस्थाई रूप से रहता था। किसी प्रकार का कोई सामाजिक संगठन या बंधन नहीं था। किसी से भी कोई रिश्तेदारी नहीं रखता था। प्रत्येक दशा में पशु जैसी प्रवृत्ति दर्शाता था। जंगली अवस्था को मॉरगन ने तीन उपस्तरों में विभाजित किया है।

1. **जंगली अवस्था का प्राचीनतम स्तरः** इस अवस्था में मानव पूरी तरह से जंगली था। यह स्तर जंगली अवस्था का चरम स्तर था। मानव जंगल में मारा मारा फिरता था। घुमंतू था, कच्चा मांस खाता था।

2. **जंगली अवस्था का मध्य स्तरः** इस स्तर का आरंभ उस समय हुआ जब मनुष्य को आग जलाने की कला आ गई। कच्चे मांस को आग में भूनकर खाने लगा। सामूहिक जीवन की शुरुआत हुई लोग झुंड में रहने लगे।

3. **जंगली अवस्था का उच्च स्तरः** इस अवस्था में मनुष्य द्वारा धनुया–बाण का आविष्कार किया गया। सामूहिक जीवन में पहले की अपेक्षा कुछ स्थिरता देखने को मिली। व्यक्ति समूह का सदस्य भी बनने लगा। कुछ निश्चित नियम भी बनने लगे।

2. **असभ्य व्यवस्थाः** सामाजिक जीवन की यह दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य कुछ उन्नत स्तर पर आ गया। कुछ नए काम एवं नए नियम बनाने लगा। इस अवस्था को भी तीन उपस्तर पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. **असभ्य अवस्था का प्राचीनतम स्तरः** इस स्तर में मनुष्य ने बर्तनों का आविष्कार किया। मनुष्य का जीवन उतना घुमंतू नहीं रहा जितना जंगली अवस्था में था। खानाबदोश की प्रवृत्ति रही पर आवश्यकता होने पर ही।

2. **असभ्य अवस्था का मध्य स्तरः** इस अवस्था में मानव ने पशुओं को पालना एवं पौधों को उगाना शुरू कर दिया था। वस्तु विनिमय की प्रथा प्रचलित हुई। परिवार का रूप भी कुछ स्पष्ट हो गया था। कुछ परिवार संबंधी नियमों का निर्माण किया गया।

3. **असभ्य अवस्था का उच्च स्तरः** इस अवस्था में मनुष्य ने औजार बनाना शुरू कर दिया था। लोहे को पिघलाकर औजार बनाने लगा। समाज में श्रम विभाजन प्रणाली को स्त्री–पुरूष के भेद के आधार पर शुरू किया गया। इस स्तर में छोटे–छोटे गणराज्यों की स्थापना हुई। इस युग को धातु युग के नाम से भी जाना जाता है।

3. **सभ्य अवस्थाः** समाज एवं संस्कृति के उद्विकास के क्रम में यह अंतिम अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य ने सामाजिक स्तर पर बहुत से

कार्य और नियमों का निर्माण किया। परिवार, संगठन, संस्था, कला, व्यापार आदि क्षेत्रों में अधिक विकास हुआ। इस अवस्था को भी तीन उपस्तरों में बांटा गया है।

1. **सभ्य अवस्था का प्राचीनतम स्थरः** इस अवस्था में मनुष्य को अक्षरों की लिखने एवं पढ़ने की क्षमता का विकास हुआ। परिवार का रूप बहुत स्पष्ट हो गया। नगरों का विकास हुआ। वाणिज्य एवं व्यापार के साथ कला एवं शिल्प में भी उन्नति इस युग में देखने को मिली। परंपराओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरण करना सरल हो गया, क्योंकि परिवार स्थाई रूप ले चुका था।
2. **सभ्य अवस्था का मध्य स्तरः** इस अवस्था में आर्थिक एवं सामाजिक संगठन बहुत ही व्यवस्थित रूप से सामने आए। इस स्तर में संस्कृति के प्रत्येक पक्ष में उन्नति देखने को मिलती है। श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण आर्थिक क्रियाओं का मुख्य आधार बन गया था। राजनैतिक संगठन भी व्यवस्थित रूप से लागू हो गए थे। सरकारी कानून भी समाज की रक्षा के लिए बनाए जाने लगे थे।
3. **सभ्य व्यवस्था का उच्च स्तरः** इस स्तर का आरंभ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से माना जाता है। इस समय आधुनिक सभ्य एवं जटिल समाज का उदय हो गया था। औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की गति तीव्र थी। बड़े–बड़े मिल–कारखाने आदि में बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य किया जाता रहा। उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार होना कई समाजों की एक मुख्य विशेषता बन गई। राज्य को एक कल्याणकारी संस्था माने जाने लगा। आज विश्व के अधिकांश देश इस अवस्था के चरण में ही है।

आर्थिक जीवन के उद्विकास के स्तर

मानव के आर्थिक जीवन का उद्विकास मुख्य चार स्तरों से होकर गुजरा है।

1. **शिकार करने एवं भोजन एकत्र करने का स्तरः** इस स्तर पर

कोई आर्थिक संगठन नहीं था। पशुओं का शिकार करना, मछली पकड़ना, कंदमूल फल आदि एकत्र करने के लिए मानव एक स्थान से दूसरे स्थान भटकता रहता था। सामाजिक–आर्थिक जीवन अनिश्चित, अस्थिर एवं घुमंतू होता था। भोजन का उत्पादन नहीं कर सकते थे किंतु संकलन के लिए प्रयासरत रहने लगे।

2. **पशुपालन या चारागाह का स्तरः** इस अवस्था में मनुष्य पशुओं का शिकार कर मारने की अपेक्षा पालने पर विश्वास करने लगे, क्योंकि पशुपालन से पशुओं के बच्चे और साथ ही पशुओं से दूध भी प्राप्त हो सकता है जो उनके आर्थिक साधन को बढ़ा सकता है। इसके उपरांत पशुओं को चराने के लिए एक स्थान पर बसना भी शुरू कर दिया। स्थान परिवर्तन करना अब अधिक कष्टकर होने लगा।

3. **कृषि स्तरः** जब मानव को बीज बोने और पौधे उगाने की कला आ गई तब कृषि स्तर का विकास हुआ। फलों के बाग, खेती करने की क्षमता ने मानव के आर्थिक जीवन को स्थिर बना दिया। मानव ने अब एक स्थान पर बसकर खेती करना प्रारंभ कर दिया। भोजन की पूर्ति के साथ ही आर्थिक क्रियाओं के साधन में भी वृद्धि हुई। आर्थिक अंतःक्रियाओं का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। समाजों के बीच आर्थिक संबंध भी विकसित हुए।

4. **प्रौद्योगिकी स्तरः** प्रौद्योगिकी स्तर में मशीनों का आविष्कार अधिक मात्रा में शुरू हुऔ उसी के साथ ही उत्पादन कार्य भी मशीनों द्वारा किया जाने लगा। मनुष्य का आर्थिक जीवन और व्यवस्थित एवं स्थाई हो गया। बड़े बड़े कारखानों पर बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य होने लगा। अब आर्थिक जीवन किसी क्षेत्र, प्रांत या देश की सीमा में ना बंध कर अंतरराष्ट्रीय हो गया। इस स्तर पर खेती के कार्य भी मशीनों द्वारा होने लगे। आर्थिक जीवन का यही वर्तमान स्तर है।

इस प्रकार से सामाजिक उद्विकास के विभिन्न स्तरों एवं आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उद्विकास सामाजिक परिवर्तन के मुख्य कारक एवं साधन दोनों हैं, जो जटिलता के साथ समाज को परिवर्तित करते हुए नई दिशा प्रदान करने में मदद कर रहा है। उद्विकास के द्वारा ही हम सभ्य समाज की स्थापना कर पाए हैं।

प्रगति

प्रगति का शाब्दिक अर्थ किसी लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना है। प्रत्येक काल, देश और व्यक्ति के लिए प्रगति शब्द का अर्थ अलग–अलग होता है। मनुष्य का सामाजिक प्राणी होने के कारण प्रगति भी समाज के दृष्टिकोण से मानी जाती है। प्रगति सामाजिक परिवर्तन का ही एक अंग है। प्रगति सदैव अच्छे के लिए ही होती है। प्रगति का लक्ष्य सामाजिक उन्नति होता है। जब परिवर्तन कुछ निश्चित उद्देश्यों के अनुसार अच्छी तरह से होता है तो उसे प्रगति कहा जाता है। साधारण भाषा में प्रगति इच्छित या वांछित लक्ष्य की ओर बढ़ना है। यहां पर यह बताना आवश्यक है कि समाजों के लक्ष्यों में कभी भी समानता नहीं होती है। अतः साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाज में कल्याणकारी परिवर्तनों को ही सामाजिक प्रगति माना जाता है। प्रगति इच्छित परिवर्तन होता है। प्रगति के लिए मनुष्य को प्रयास करते रहना पड़ता है। प्रगति स्वतः क्रिया नहीं है। प्रगति को सामाजिक नियोजन का पर्यायवाची रूप भी कहा जा सकता है। प्रगति अलग–अलग समाज और संस्कृतियों में भिन्न–भिन्न भी हो सकती है। प्रगति बुद्धि संगत और मूल्यों का सम्मिलन होती है और प्रगति में सामाजिक पसंद को प्राथमिकता दी जाती है। वैसे प्रगति का मापदंड भौतिक उन्नति है।

प्रगति की परिभाषा

आगबर्न तथा निम्कॉफ, ''प्रगति का अर्थ होता है अच्छाई के लिए परिवर्तन और इसलिए प्रगति में मूल्य निर्धारण होता है।''

लेस्टर वार्ड ''प्रगति वह है जो माननीय सुख की वृद्धि करती है।''

लूम्ले ''प्रगति परिवर्तन है किंतु यह परिवर्तन इच्छित अथवा मान्यता प्राप्त दिशा में परिवर्तन है ना की किसी दिशा में परिवर्तन।''

सामाजिक प्रगति की विशेषताएं/लक्षण

सामाजिक प्रगति की कुछ विशिष्ट विशेषताएं या लक्षण होते हैं जिनके आधार पर सामाजिक प्रगति का मापन किया जा सकता है।

1. **परिवर्तनशील प्रकृतिः** सामाजिक प्रगति की परिवर्तनशीलता ही प्रगति की सर्वप्रमुख विशेषता है। परिवर्तन की अनुपस्थिति में प्रगति संभव ही नहीं है। परिवर्तन आने के कारण ही प्रगति का आना एवं प्रगति के आने से ही परिवर्तन का होना एक सच्चाई है।
2. **परिवर्तन की मान्यता प्राप्त दिशाः** प्रगति में परिवर्तन एक निश्चित अथवा मान्यता प्राप्त दिशा में होता है। अर्थात् सामाजिक प्रगति एक उद्देश्य पूर्ण परिवर्तन है। यदि उद्देश्य निश्चित नहीं है तो वह प्रगति नहीं कही जा सकती।
3. **सामूहिक उन्नतिः** जब संपूर्ण समाज या समुदाय की उन्नति हो रही हो तभी उसे प्रगति माना जा सकता है। यदि किसी विशेष समूह को लाभ पहुंच रहा है तो उसे प्रगति नहीं कहा जा सकता।
4. **निश्चित उद्देश्यः** जिस प्रगति का कोई निश्चित उद्देश्य हो वही प्रगति के अंतर्गत आता है। यदि कोई सामाजिक प्रगति उद्देश्यहीन है तो उसे सामाजिक प्रगति नहीं कहा जा सकता।
5. **सार्वभौमिकता का अभावः** प्रगति में सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है। प्रगति सार्वभौमिक है परंतु इसकी दिशा सार्वभौमिक नहीं होती है। भारतीय समाज में आध्यात्मिकता की प्राप्ति को प्रगति माना जाता है, परंतु पाश्चात्य समाज के लोग इसे प्रगति माने यह आवश्यक नहीं है। कुछ लोग भौतिक उन्नति को ही प्रगति मानते हैं। कुछ समाज उन्नत अर्थव्यवस्था को प्रगति कहते हैं।
6. **प्रगति सामाजिक होती हैः** समाजशास्त्र में सामाजिक प्रगति को ही समाज की प्रगति माना जाता है। एक व्यक्ति की प्रगति, उन्नति

या तरक्की को सामाजिक प्रगति नहीं कहा जा सकता है। प्रगति का संबंध समग्र समाज से होता है।

7. **प्रगति का माप मूल्यों द्वारा होता है:** जब तक किसी भी परिवर्तन का मूल्य ना हो उसे प्रगति नहीं माना जा सकता है। प्रगति का मापन हमेशा मूल्यों के द्वारा किया जाता है। यदि परिवर्तन मूल्यवान होगा तभी उसे प्रगति कहा जाएगा अन्यथा नहीं। यदि किसी मूल्य की अवहेलना हो रही हो तो वह प्रगति नहीं हो सकती है।
8. **प्रगति में हानि कम लाभ अधिक:** सामाजिक प्रगति एक प्रकार का परिवर्तन है किंतु इसमें हानि की मात्रा कम तथा लाभ की मात्रा अधिक होती है। इसमें कार्य एवं परिवर्तन का अंतिम लक्ष्य लाभ ही होता है। कुछ हानि भी हो सकती है परंतु परिणाम में लाभ प्राप्ति मुख्य होता है।
9. **प्रगति मात्र मनुष्य से संबंधित है:** मनुष्यों के साथ–साथ अन्य प्राणी भी प्रगति करते हैं, किंतु उनके सम्मुख कोई लक्ष्य उद्देश्य नहीं होता, अतः उसे प्रगति नहीं कहा जाता। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है जो दिशा निर्धारित करके प्रगति करता है तथा प्रगति का तात्पर्य मनुष्यों से ही है।

सामाजिक प्रगति की सहायक परिस्थितियां

सामाजिक प्रगति में सहायक परिस्थितियाँ या सहायक दशाएँ सभी देशों में एक जैसी नहीं होती है एवं प्रगति की भिन्न–भिन्न क्षेत्रों के लिए परिस्थितियां भिन्न भिन्न हो सकती है। प्रगति में सहायक अवस्थाएं सदैव बदलती रहती है। कुछ सामान्य दशाएं निम्न है:

1. **स्वतंत्रता और समानता:** स्वतंत्रता और समानता के बिना लोग प्रगति की दिशा में सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकते हैं। व्यक्ति का स्वतंत्र एवं समानता की भावना होना प्रगति के लिए आवश्यक है। स्वतंत्रता से व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना एवं समानता से कठोर परिश्रम की इच्छा का विकास होता है। दोनों ही परिस्थितियां

प्रगति के लिए आवश्यक है।

2. **सामाजिक सुरक्षाः** समाज के सभी सदस्यों में सामाजिक सुरक्षा की भावना प्रगति के लिए अनिवार्य है। यदि सदस्यों में किसी भी प्रकार का डर भय व्याप्त है तो वह प्रगति नहीं कर सकता है। समाज द्वारा सुरक्षा प्राप्त व्यक्ति सामाजिक प्रगति के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।
3. **नवीन अविष्कारः** नए नए अविष्कार का होना भी सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है। प्रत्येक आविष्कार हमें प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने में मदद करते हैं। भविष्य में अनेकों प्रगति की संभावनाओं को बढ़ाते हैं। नवीन आविष्कार से समाज और देश दोनों में प्रगति होती है।
4. **स्वास्थ्य और दीर्घ जीवनः** मनुष्य का स्वास्थ्य एवं औसत दीर्घ जीवन प्रगति को दर्शाता है। सामाजिक प्रगति के लिए व्यक्ति का निरोग होना एवं लंबी आयु का होना, जिससे वह सही रूप से समाज में प्रगति कर सके, आवश्यक है। स्वास्थ्य सही होने से व्यक्ति कठिन परिश्रम कर सकता है।
5. **शिक्षा का उच्च स्तरः** शिक्षा के द्वारा व्यक्ति और समाज को बाह्य तथा आंतरिक शक्ति मिलती है, जो उसकी प्रगति को गति प्रदान करती है। समाज एवं व्यक्ति का सर्वांगीण विकास शिक्षा से ही संभव है। शिक्षित व्यक्ति समाज में अच्छे के लिए परिवर्तन ला सकता है। शिक्षा के बगैर ज्ञान विज्ञान की प्रगति नहीं हो सकती है। शिक्षा ही नए नए आविष्कारों को जन्म देती है जो सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक परिस्थिति है।
6. **योग्य सामाजिक नेताः** योग्य सामाजिक नेता भी सामाजिक प्रगति के लिए सहायक सिद्ध होता है, क्योंकि योग्य नेता के दिशा निर्देश से ही साहसिक प्रयत्न जनता के द्वारा किए जाते हैं। भारतीय समाज में राजा राममोहन राय, महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानंद, रामानुज का योगदान अमूल्य है।

7. **अनुकूल भौगोलिक पर्यावरणः** भौगोलिक पर्यावरण का अनुकूल होना, कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना, समय पर बारिश होना इत्यादि भी सामाजिक प्रगति में सहायक सिद्ध होते हैं। जहां पर पहाड़, जंगल या अत्यधिक बरसात वाले क्षेत्र हैं वहां प्रगति की गति थोड़ी कम रहती है।
8. **नैतिक आचारः** नैतिक आचार भी सामाजिक प्रगति के लिए महत्वपूर्ण परिस्थिति का निर्माण करते हैं, क्योंकि प्रगति हमेशा मूल्यों पर आधारित रहती है। यदि समाज में नैतिकता के आधार पर परिवर्तन हो रहा है तो समाज में प्रगति की रफ्तार तीव्र होगी। यदि अनैतिकता है तो प्रगति अवनति में बदल सकती है।
9. **भौतिक सुविधाओं का संचयः** यदि मनुष्य भौतिक सुविधाओं का संचय कर सकता है तो उसे प्रगतिशील माना जा सकता है। जीवन में आवश्यक चीजों का संचय करना एवं उससे आर्थिक प्रगति करना भी सामाजिक प्रगति की अवस्था में गति प्रदान करता है। सुविधाएं होने से व्यक्ति और अधिक श्रम करने में सक्षम हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक परिवर्तन की कोई निश्चित दिशा नहीं होती। उससे समाज का लाभ भी हो सकता है और हानि भी। परंतु सामाजिक प्रगति के संबंध में यह बात सच है कि सामाजिक प्रगति की निश्चित दिशा होती है और यह समाज को हमेशा लाभ ही पहुंचाता है। सामाजिक प्रगति भी एक प्रकार से सामाजिक परिवर्तन ही है, लेकिन यह परिवर्तन समाज में इच्छित और मान्यता प्राप्त दिशा में अच्छाई के लिए होता है। इसलिए प्रगति से समाज की उन्नति होती है, समाज में कल्याणकारी परिवर्तन आते हैं।

––==00==––

इकाई 5

सामाजिक व्यवस्था
सामाजिक प्रक्रिया

सामाजिक व्यवस्था

भूमिका

सामाजिक व्यवस्था वह स्थिति या अवस्था है जिसमें सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाले विभिन्न अंग या इकाईयां व्यवस्था के अंतर्गत निर्धारित प्रकार्यात्मक संबंध के आधार पर परस्पर जुड़े हुए होते हैं। यह व्यवस्था समग्रता की ऐसी संतुलित स्थिति उत्पन्न करती है जिनमें मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति संभव होती है। यह सामाजिक व्यवस्था सामाजिक लक्ष्य को प्राप्त करने में मनुष्य की सहायता करती है। सामाजिक व्यवस्था सावयवी सिद्धांत पर आधारित है। जिस प्रकार मानव शरीर विभिन्न अंगों से मिलकर बना है और सभी अंग अपना–अपना कार्य सुचारु रुप से करते हैं जिससे मानव शरीर व्यवस्थित रूप से दिनचर्या के कार्य में संलग्न रहता है, इसी तरह समाज की सभी इकाईयां अपने–अपने कार्य को सुचारु रुप से संपादित करती रहती है। सभी इकाईयां पारस्परिक रूप से एक–दूसरे पर निर्भर रहते हुए समाज की आवश्यकताओं एवं लक्ष्यों की पूर्ति करते रहती है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था किसी न किसी सांस्कृतिक व्यवस्था के अंतर्गत ही क्रियाशील रहती है।

सामाजिक व्यवस्था का अर्थ

सामाजिक व्यवस्था का अर्थ है किसी विशेष प्रकार के सामाजिक संबंधों, मूल्यों तथा परिमापों को यथास्थिति बनाए रखने के लिए किसी तंत्र या प्रणाली की व्यवस्था करना, जिससे संपूर्ण सामाजिक कार्य व्यवस्थित ढंग से हो सके। सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियों, समूहों और संस्थाओं के मध्य मौजूद एक संपूर्णता को गठित करने वाले संबंधों का प्रतिरूप है।

सामाजिक व्यवस्था की परिभाषा

मार्शल जोन्स के अनुसार, ''सामाजिक व्यवस्था व स्थिति है जिसमें समाज की विभिन्न क्रियाशील इकाईयां परस्पर तथा पूरे समाज के साथ क्रिया करती हुई एक अर्थपूर्ण ढंग से संबंधित रहती है।''

पारसंस के अनुसार, ''सामाजिक व्यवस्था अनिवार्य रूप से अंतःक्रियात्मक संबंधों का जाल है।''

अतः सामाजिक व्यवस्था सामाजिक अंतःक्रियाओं का व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध संगठन है। सामाजिक व्यवस्था के घटक अंग व्यक्ति होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की एक या एक से अधिक भूमिका होती है। यह भूमिका भी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में मदद करती है। भूमिका के कारण ही व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार कार्य करता है, जिससे सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है।

सामाजिक व्यवस्था की विशेषताएं

सामाजिक व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:

1. **सामाजिक अंतःक्रिया पर आधारितः** सामाजिक व्यवस्था अनेक लोगों की अंतःक्रिया पर आधारित है। सामाजिक व्यवस्था किसी एक व्यक्ति की क्रिया से उत्पन्न नहीं हो सकती है। जब अनेक व्यक्ति क्रिया एवं अंतःक्रिया करते हैं तो उनकी अंतःक्रियाएं एक व्यवस्था को जन्म देती है जिसे सामाजिक व्यवस्था कहा जाता है। इसके निर्माण के लिए अनेक व्यक्तियों के साथ–साथ अनेक सामाजिक इकाईयों का होना भी आवश्यक होता है।
2. **अंतःक्रिया अर्थपूर्ण होनी चाहिएः** सामाजिक व्यवस्था अर्थपूर्ण अंतःक्रियाओं का संगठन है। लक्ष्यहीन एवं अर्थहीन अंतःक्रियाएं किसी भी व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकती है। यह अंतःक्रिया मानवीय संबंधों को स्थापित करती है। सामाजिक संबंधों में रीति–रिवाजों, प्रथाओं, रूढ़ियों, कानूनों, संस्थाओं आदि की अभिव्यक्ति होती है और यही अभिव्यक्ति अंतःक्रिया को उद्देश्य पूर्ण बनाती है।
3. **सामाजिक एकीकरणः** सामाजिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों को उनकी योग्यता और कुशलता के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करके उनकी प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण करना होता है। इसी से पारस्परिक सहयोग तथा एकीकरण में वृद्धि

होती है। सामाजिक एकीकरण सामाजिक व्यवस्था का मापदंड है। यदि समाज में एकीकरण की मात्रा अधिक होगी तो सामाजिक व्यवस्था भी प्रभावशाली एवं व्यवस्थित होगी।

4. **प्रकार्यात्मक संबंधः** सामाजिक व्यवस्था में समाज की प्रत्येक इकाई या अंग की एक निश्चित भूमिका होती है। विभिन्न इकाई प्रकार्यात्मक संबंध के आधार पर परस्पर एक–दूसरे से जुड़ी होती है। वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था स्वतंत्र एवं अंतः क्रियाशील अंगों की व्यवस्था की अवधारणा में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। समाज की सभी इकाईयां निर्धारित क्रियाविधि एवं आदर्श नियमों का पालन करती है।
5. **सामाजिक संस्था का पर्यावरणीय पक्षः** एक सामाजिक व्यवस्था अनिवार्य रूप से किसी न किसी भौतिक पर्यावरण में क्रियाशील होती है जो अनुकूल या प्रतिकूल भी हो सकता है। सामाजिक व्यवस्था समय के परिवर्तन के साथ बदलती रहती है किंतु परिवर्तनों के बावजूद भी सामाजिक व्यवस्था कायम रहती है। जैसे पति–पत्नी की भूमिकाओं में परिवर्तन आ गया है, आदर्श नियम बदल गए हैं, किंतु परिवार व्यवस्था का अंत नहीं हुआ है।
6. **सांस्कृतिक व्यवस्था से संबंधितः** सांस्कृतिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था में घनिष्ठ संबंध है। सांस्कृतिक व्यवस्था ही सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित करती है। यह न केवल अंतःक्रियाओं एवं अंतः संबंधों का निर्धारण करती है अपितु समाज के विभिन्न अंगों के बीच संतुलन एवं सुसंगत संबंध कायम रखती है। यह विविध अंगों के बीच संघर्ष की संभावना को कम करती है।
7. **आवश्यकताओं की पूर्तिः** भिन्न–भिन्न समाजों में विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाएं पाई जाती है, जो समाज को व्यवस्थित रखने के अलावा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति भी करती है। मानव के सभी क्षेत्रों की आवश्यकताएं जैसे सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षिक, पारिवारिक एवं सांस्कृतिक सभी की आवश्यकताएं सामाजिक

व्यवस्था के बने रहने से ही पूर्ण होती है।

8. **क्रमबद्धताः** सामाजिक व्यवस्था समाज की सभी इकाईयों का क्रमबद्ध रूप है। कोई भी इकाई व्यवस्था का निर्माण पृथक रूप से नहीं कर सकती है। सभी इकाईयों का क्रमबद्ध एवं परस्पर संबंधित होना ही सामाजिक व्यवस्था का निर्माण है। क्रम यदि असंतुलित होता है तो व्यवस्था भी चरमरा सकती है।

9. **सामाजिक व्यवस्था में समायोजन के गुणः** सामाजिक व्यवस्था में समायोजन भी एक मुख्य विशेषता है। सामाजिक व्यवस्था समाज के उद्देश्यों, वस्तुओं और आवश्यकताओं से प्रभावित होती है। यह एक गतिशील घटना है। सामाजिक व्यवस्था तभी प्रासंगिक होगी जब वह बदली हुई वस्तुओं और जरूरतों के अनुसार स्वयं को भी बदल ले। समायोजन ही इन बदली हुई परिस्थितियों में व्यवस्था को हमारे अनुकूल एवं हमें व्यवस्था के अनुकूल ढालने में मदद करती है।

सामाजिक व्यवस्था के तत्व

सामाजिक व्यवस्था के तत्वों को पारसंस ने संरचनात्मक एवं संस्थात्मक पक्षों के रूप में वर्णित किया है।

1. **संस्थापक पक्षः** इसके अंतर्गत आने वाले तत्व सामाजिक व्यवस्था की व्यवस्था एवं नियंत्रण का निर्माण करते हैं, जो निम्न प्रकार के है।

1. **संबंधात्मक संस्थाएंः** सामाजिक व्यवस्था का यह तत्व व्यक्ति के पदों एवं भूमिकाओं को परिभाषित कर उनके परस्पर संबंधों को निश्चित करता है। यह तत्व व्यक्ति के कार्यों का वितरण करता है एवं विभिन्न वर्गों का निर्माण करता है। संबंधात्मक संस्थाएं कार्यों के आधार पर संबंधों का निर्माण करती है, जैसे विवाह संस्था पति पत्नी के संबंध एवं कार्यों को बताती है जो कि एक सामाजिक व्यवस्था है।

2. **नियामक संस्थाएंः** सामाजिक व्यवस्था का यह तत्व व्यक्ति के स्वार्थों पर नियंत्रण रखते हुए आवश्यक सुविधाएं प्रदान करता है। यहां पर व्यक्ति के स्वार्थों का नियमन होना आवश्यक है। इसके अंतर्गत वे संस्थाएं आती है जो सुविधाओं का वितरण करने एवं सामाजिक व्यवस्था को संगठित करने का कार्य करती है। यह संस्था नियमन के द्वारा पुरस्कार एवं दंड की व्यवस्था को विकसित करती है।
3. **सांस्कृतिक संस्थाएंः** सामाजिक व्यवस्था के इस तत्व में धार्मिक विश्वास, प्रतीक, मूल्य आदि आ जाते हैं। इस संस्था का विषय ही सांस्कृतिक प्रतिमान है। इनका संबंध संपूर्ण समाज से होता है। यह भी हमारे समाज की व्यवस्था ही है जो समाज को व्यवस्थित बनाए रखने में मदद करती है।

2. संरचनात्मक पक्ष

इसके अंतर्गत आने वाले तत्व सामाजिक व्यवस्था की संरचना का निर्माण करते हैं, जो निम्न हैः

1. **नातेदारी व्यवस्थाः** नातेदारी से व्यक्ति को कुछ प्रस्थितियां एवं भूमिकाएं प्राप्त होती है जो प्रदत्त प्रकार की होती है एवं जिनका संबंध परिवार एवं विवाह से होता है। यह व्यवस्था समाजीकरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति के कितने नातेदार हैं यह उसके व्यवहार एवं उसके समाज की व्यवस्था पर निर्भर करता है। नातेदारी व्यवस्था ही सामाजिक व्यवहारों का नियमन करती है।
2. **सामाजिक स्तरीकरणः** इसके अंतर्गत व्यक्तियों के पदों, प्रस्थितियों एवं विभिन्न भूमिकाओं का विभाजन किया जाता है। इसी के कारण समाज में उच्च एवं निम्न स्थान प्राप्त होता है। स्तरीकरण के आधार पर ही व्यक्ति को अधिकार तथा सुविधाएं प्राप्त होती है। इसकी उचित व्यवस्था दायित्व निर्वाह की प्रेरणा प्रदान करती है। स्तरीकरण पद एवं भूमिका के अनुरूप संबंधों को भी निश्चित तथा

नियमित करता है।

3. **शक्ति व्यवस्थाः** समाज में संतुलन, एकता तथा नियंत्रण बनाए रखने के लिए एवं संघर्ष को टालने के लिए शक्ति व्यवस्था भी आवश्यक है। शक्ति व्यवस्था ही व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहार को नियंत्रित रखती है जिससे सामाजिक व्यवस्था बनी रहे। शक्ति के अंतर्गत राजनीतिक शक्ति, आर्थिक शक्ति एवं समाजिक शक्ति को शामिल किया जा सकता है।

4. **सामाजिक मूल्यः** सामाजिक मूल्य व्यक्तियों के व्यवहारों में एकरूपता लाते हैं तथा सामाजिक व्यवस्था को यथावत बनाए रखते हैं। सामाजिक मूल्य धर्म के मूल्यों से बने होते हैं जो संपूर्ण समाज को एक नैतिक सूत्र में बांधते हैं। सामाजिक मूल्य व्यक्तियों की मनोवृतियों, व्यवहारों तथा आचरणों को स्पष्ट रूप से प्रभावित करते हैं तथा मानवीय क्रियाओं को निर्देशित कर सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार से सामाजिक व्यवस्था से तात्पर्य सामाजिक संरचना, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक प्रतिमानों, समितियों एवं संस्थाओं आदि के व्यवस्थित स्वरूप से है। समाज की अधिकांश आवश्यकताएं हमारी सामाजिक व्यवस्था के कारण ही पूर्ण होती है। सामाजिक व्यवस्था सामाजिक ढांचे को सुचारू, आत्मनियंत्रित, संतुलित और समन्वित ढंग से कार्य कर एक नवीन व्यवस्था का निर्माण करती है जो समय के साथ परिवर्तित होकर समाज को सतत्ता प्रदान करता है। सामाजिक व्यवस्था एक यथार्थ पहलू है जिसका प्रभाव हमारे दैनिक जीवन पर पड़ता है। अन्य शब्दों में कहें तो सामाजिक व्यवस्था सामाजिक संबंधों एवं भूमिकाओं को व्यवस्थित करने का एक माध्यम है। सामाजिक व्यवस्था से ही सामाजिक संरचना जुड़ी हुई है।

––==00==––

सामाजिक प्रक्रिया

भूमिका

समाज में मनुष्य की आवश्यकताएं इतनी अधिक होती है कि वह कभी भी पूर्ण रुप से स्वतंत्र नहीं हो सकता है। उसे अपनी असीमित आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किसी ना किसी से सहयोग लेना पड़ता है अथवा संघर्ष करना पड़ता है। कुछ समाजशास्त्रयों ने अंतःक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया को एक ही अर्थ में प्रयोग किया है, जबकि दोनों अलग–अलग धारणाएं हैं। अंतःक्रिया में दो व्यक्ति या समूह आपस में क्रिया करते हैं। अंतःक्रिया किसी न किसी प्रकार के संबंधों को निर्मित करती है। अंतःक्रिया का आधार हमेशा मधुर संबंध ही नहीं होता है बल्कि ईर्ष्या या घृणा भी हो सकता है। क्रिया का निरंतर रूप से होना ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाता है। अंतःक्रिया के विभिन्न स्वरूपों को ही सामाजिक प्रक्रिया माना जाता है। समाज में कुछ क्रियाएं ऐसी होती है जो समाज के लिए सहयोग का कार्य करती है। इन्हें सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है, जैसे सहयोग, एकीकरण, व्यवस्थापन आदि। परंतु कुछ सामाजिक क्रियाएं समाज में सहयोग का कार्य नहीं करती है उन्हें असहयोगी सामाजिक क्रियाएं माना जाता है, जैसे प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, विरोध आदि। सामाजिक क्रियाएं समाज में चलती रहती है इसलिए इन्हें सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है।

सामाजिक प्रक्रिया का अर्थ

सामाजिक प्रक्रिया वह माध्यम है जिनसे व्यक्ति और समूह परस्पर क्रिया करते हैं, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तथा आपस में संबंध व व्यवहार को स्थापित करते हैं। सामाजिक अंतःक्रिया के द्वारा समायोजन कर अनेकों अंतःक्रियाओं को निर्मित करते हैं जो निरंतर चलती रहती है। यही समस्त क्रिया–प्रतिक्रिया सामाजिक प्रक्रिया कहलाती है। सामाजिक प्रक्रिया निरंतर गतिशील रहती है। सामाजिक अंतःक्रिया की प्रणाली को सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है।

सामाजिक प्रक्रिया की परिभाषा

बीसेंस के अनुसार, ''परस्पर संबंधों, क्रिया के विभिन्न स्वरूपों को सामाजिक प्रक्रियाएं कहते हैं।''

लुण्डबर्ग के अनुसार, ''प्रक्रिया का अर्थ एक अपेक्षाकृत विशिष्ट तथा पूर्व अनुमानित परिणामों की ओर ले जाने वाली संबंधित घटनाओं के अनुक्रम से है।''

पार्क एवं बर्गेस के अनुसार, ''सामाजिक प्रक्रिया से अर्थ उन समस्त परिवर्तनों से है जो समूह के जीवन में परिवर्तन माने जाते हैं।''

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, ''सामाजिक प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य अंतःक्रिया करने के वे तरीके हैं जिन्हें हम व्यक्तियों एवं समूहों के बीच संबंधों के समय देखते हैं अथवा जब प्रचलित जीवन विधियों के परिवर्तन में व्यवधान पहुंचाते हैं।''

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रक्रिया समाज के परस्पर क्रियाओं में निहित है। ये क्रियाएं अंतःक्रियाओं के रूप हैं। सामाजिक संपर्क एवं सामाजिक क्रियाएं प्रत्येक समाज की नींव है जो समाज को अनवरत गतिमान बनाए रखती है।

सामाजिक अंतःक्रिया के तत्व

सामाजिक अंतःक्रिया के दो आधारभूत तत्व हैं जिनके बिना सामाजिक अंतःक्रिया का होना असंभव है एवं अंतःक्रिया के ना होने से सामाजिक प्रक्रिया बाधित हो सकती है। सामाजिक प्रक्रिया के दो आधारभूत तत्व निम्न हैं।

1. **सामाजिक संपर्कः** दो लोगों का आपस में संपर्क करना एवं संपर्क के दौरान अंतःक्रिया का होना ही सामाजिक संपर्क है। सामाजिक संपर्क सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी। सकारात्मक सामाजिक संपर्क में सहयोग एवं एकीकरण की भावना होती है, परंतु नकारात्मक संपर्क में संघर्ष और ईर्ष्या शामिल रहती है। सामाजिक संपर्क शारीरिक अथवा भौतिक संपर्क से अलग है।

सामाजिक संपर्क रेडियो, पत्रों, टेलीफोन एवं संचार के अन्य साधनों द्वारा भी हो सकता है। सामाजिक संपर्क में व्यक्ति ऐसे लोगों से भी संपर्क स्थापित करता है जो उनसे दूर है। सामाजिक संपर्क दो प्रकार का हो सकता है।

1. **प्रत्यक्ष संपकः** प्रत्यक्ष संपर्क में अंतःक्रिया करने वाले व्यक्ति या समूह एक दूसरे से शारीरिक या आमने–सामने संपर्क में रहते हैं, जैसे अभिवादन करना, बातचीत करना आदि। प्रत्यक्ष संपर्क अंतःक्रिया के सरलीकरण में अधिक सहायक है। दो व्यक्ति आपस में बैठकर वार्तालाप करते हैं तो सामाजिक शिष्टाचार एवं आचार–विचारों का पालन अधिक करते हैं।
2. **अप्रत्यक्ष संपर्कः** अप्रत्यक्ष संपर्क में व्यक्ति या समूह का आमने–सामने रहना आवश्यक नहीं है। वे संचार के माध्यमों से संपर्क स्थापित कर सकते हैं। फोन या पत्रों के माध्यम से संपर्क करना अप्रत्यक्ष संपर्क कहलाता है। अप्रत्यक्ष संपर्क में भी अंतःक्रिया होती है, परंतु प्रत्यक्ष संपर्क से कम होती है। शारीरिक समीपता कम एवं आचार–विचारों का पालन भी प्रत्यक्ष संपर्क के अपेक्षाकृत कम ही रहता है।

2. **संचारः** सामाजिक अंतःक्रिया का दूसरा आधारभूत तत्व है संचार। संचार का अर्थ है अपनी बातों, विचारों एवं भावनाओं को किसी न किसी माध्यम से दूसरों तक पहुंचाना। संचार के बगैर किसी भी प्रकार का सामाजिक संपर्क नहीं हो सकता है। समाज में हर व्यक्ति किसी न किसी संचार के माध्यम से एक दूसरे के संपर्क में रहता है। बातचीत भी संचार का सशक्त माध्यम है। संचार लिखित एवं अलिखित हो सकता है। संचार संकेतों तथा प्रतीकों के माध्यम से भी संभव है। संचार के भी निम्न दो प्रकार हैं।

1. **पूर्ण संचारः** पूर्ण संचार वह होता है जब मानव के बीच अंतःक्रिया करने का अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाए। परस्पर अर्थपूर्ण संपर्क ही पूर्ण संचार माना जाता है। इसमें संचार का माध्यम भी उच्च

श्रेणी का होता है। पूर्ण सांर में वही बात स्पष्ट होती है जिस अर्थ में कहना चाहते हैं।

2. **अपूर्ण संचारः** जब अंतःक्रिया करने वाले व्यक्ति आपस में अपनी बातों को नहीं समझा पाए तो वह अपूर्ण संचार होता है। इसमें संचार के साधनों के द्वारा भी अवरोध उत्पन्न हो सकता है। अपूर्ण संचार से नकारात्मक प्रभाव भी समाज में पड़ सकता है।

संचार की स्थिति सापेक्ष होती है क्योंकि प्रत्येक स्थिति में संचार एक से अधिक प्रकार का हो सकता है। एक ही क्रिया का भिन्न–भिन्न स्थिति में भिन्न–भिन्न अर्थ हो सकता है। जैसे कि ''वाह'' शब्द बोलना प्रशंसा भी हो सकता है और व्यंग भी।

सामाजिक प्रक्रिया के तत्व

सामाजिक प्रक्रिया के निम्न तत्व होते हैंः

1. घटनाओं का क्रम
2. घटनाओं की पुनरावृत्ति
3. घटनाओं के बीच संबंध
4. घटनाओं की निरंतरता
5. विशेष सामाजिक परिणाम

उपरोक्त तत्वों के कारण ही अंतःक्रिया होती है एवं अंतःक्रियाओं की निरंतरता से ही सामाजिक प्रक्रिया पूर्ण होती है। अंतःक्रियाओं से घटनाओं का जन्म होता है तथा घटनाओं से ही अंतःक्रिया पूर्ण होती है। इन्हीं से सामाजिक प्रक्रिया जन्म लेती है।

सामाजिक प्रक्रिया की विशेषताएं

सामाजिक प्रक्रिया की विशेषताएं निम्न हैः

1. समूह में व्यक्तियों के बीच हमेशा कुछ न कुछ अंतःक्रियाएं होते रहने के कारण ही विभिन्न सामाजिक प्रक्रिया उत्पन्न होती रहती है।
2. सामाजिक प्रक्रिया में निरंतरता होती है। यह गतिशील प्रकृति के होते हैं।

3. सामाजिक प्रक्रिया की प्रकृति स्थाई नहीं होती है, क्योंकि सामाजिक प्रक्रिया में सहयोग एवं संघर्ष दोनों ही पाए जाते हैं।
4. सामाजिक प्रक्रिया में सामाजिक संबंधों का एक विशेष स्वरुप होता है जो अंतःक्रिया के द्वारा उत्पन्न होती है।
5. समाज के स्वरूप के आधार पर ही सामाजिक प्रक्रिया विकसित होती है। यदि समाज में जटिलताएं अधिक है तो सामाजिक प्रक्रिया की व्यवस्था भी बढ़ती जाती है।
6. सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक संपर्क तथा अंतःक्रिया से उत्पन्न होने वाली एक दशा है।
7. सामाजिक प्रक्रिया के अंतर्गत व्यक्ति किसी क्रिया या व्यवहार को मात्र मानसिक रूप से ही नहीं समझते, अपितु उसके अनुरूप व्यवहार भी करते हैं।
8. सामाजिक प्रक्रिया में ऐतिहासिक बदलाव आते रहते हैं।
9. सामाजिक प्रक्रिया केवल सामाजिक व्यक्तियों पर ही नहीं वरन् उनकी गुणवत्ता पर भी प्रभाव डालती हैं।
10. सामाजिक प्रक्रिया के कारण ही लोगों के मध्य सामाजिक संबंध कायम रहता है।
11. सामाजिक प्रक्रिया कुछ निश्चित आधारों के अनुसार वर्गीकृत की जा सकती है।
12. सामाजिक प्रक्रिया नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों ही रूपों में समाज में विद्यमान रहती हैं।

सामाजिक प्रक्रिया के प्रकार

सामाजिक प्रक्रिया को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया हैः

1. **सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाः** जिस प्रक्रिया में समाज में सहयोग की भावना पाई जाती है, समाज के सदस्यों को एकता के सूत्र में बांधने की बात या कार्य होता है, वे सभी प्रक्रियाएं सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया कहे जाते है। सहयोगात्मक

सामाजिक प्रक्रिया में सहयोग, समायोजन, सात्मीकरण और एकीकरण की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

1. **सहयोगः** सामाजिक प्रक्रिया में सहयोग समाज के सामान्य एवं विशेष उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होते हैं। इस प्रक्रिया से समाज में सहयोग की भावना बलवती होती है। व्यक्ति एक साथ मिलकर काम करने एवं समाज को संगठित करने का कार्य करते हैं। सहयोग से पारस्परिक सहायता, एकता तथा परिश्रम की भावना उत्पन्न होती है। सहयोग में हम की भावना पाई जाती है। सहयोग एक चेतन प्रक्रिया है। सहयोग में व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है। सहयोग के दो स्वरूप हैं:

1. **प्रत्यक्ष सहयोगः** प्रत्यक्ष सहयोग वह होता है जब किसी व्यक्ति या समूह आमने–सामने के संबंधों के द्वारा संगठित होकर कोई कार्य करते हैं। प्रत्यक्ष सहयोग के लिए संबंधित व्यक्तियों में समान उद्देश्य एवं समान कार्य की स्थिति का होना अनिवार्य होता है। उदाहरण के लिए खेल के मैदान में एक टीम के खिलाड़ियों द्वारा जीत हासिल करने के लिए एक दूसरे को दिया जाने वाला सहयोग।
2. **अप्रत्यक्ष सहयोगः** अप्रत्यक्ष सहयोग वह होता है जब सहयोग करने वाले व्यक्तियों का लक्ष्य समान होता है लेकिन इस उद्देश्य को वह असमान कार्यों द्वारा पूर्ण करते हैं। उदाहरण के लिए श्रम विभाजन के द्वारा उत्पादन वृद्धि के लिए किया गया कार्य या किसी संस्था में विभिन्न कर्मचारी द्वारा संस्था के विकास के लिए किए गए कार्य अप्रत्यक्ष सहयोग के अंतर्गत आते हैं।

2. **समायोजनः** सभी समाजों में सहयोगी सामाजिक प्रक्रियाओं के साथ–साथ असहयोगी सामाजिक प्रक्रियाएं भी चलती रहती है। समाज को शांतिपूर्ण बनाए रखने के लिए इन दोनों के मध्य समायोजन का होना आवश्यक है। समायोजन एक सहयोगी सामाजिक प्रक्रिया है। समायोजन संघर्ष से सहयोग की ओर बढ़ने का प्रथम चरण है। जब कभी भी समाज में संघर्ष की स्थिति बनती

है तो समायोजन की प्रक्रिया ही समाज को शांति एवं स्थिरता प्रदान करने में मदद करती है। समायोजन सामाजिक स्थिति में एक साथ कार्य करने की अनुमति देता है। समायोजन एक व्यक्ति द्वारा व्यवहार, आदतों या विचारों के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

3. **एकीकरणः** भारतीय समाज में सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया सर्वोत्तम रूप से विद्यमान है। राष्ट्रीय एकीकरण, सामाजिक एकीकरण, धार्मिक एकीकरण, सांस्कृतिक एकीकरण, जातिगत एकीकरण, भाषागत एकीकरण इत्यादि एक राष्ट्र के सहयोगी घटक है, जो विभिन्नताओं में भी एकता के पाठ पढ़ाते हैं। प्रत्येक समाज में एकीकरण की प्रक्रिया पाई जाती है। वास्तव में एकीकरण उन बंधनों को माना जाता है जो एक समाज के सदस्यों को एक सूत्र में पिरोते हैं अर्थात् उन्हें एक दूसरे के संबद्ध होने की दिशा में आगे बढ़ाते हैं। एकीकरण में भिन्नता समाप्त हो जाती है।

4. **आत्मसातीकरणः** आत्मसातीकरण सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ संयुक्त रूप से हो जाती है। आत्मसातीकरण में सहिष्णुता, समीपता, समानता एवं सामाजिक संपर्क की अधिकता रहती है। आत्मसातीकरण किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण विदेशियों का है जो अपनी संस्कृति को छोड़कर उस देश की संस्कृति को अपना लेते हैं जहां भी जाकर रहने लगते हैं। आत्मसातीकरण एकीकरण को बढ़ावा देती है।

2. **असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाः** असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया वह प्रक्रिया होती है जो समाज में असहयोग उत्पन्न करती है। सामाजिक प्रगति के लिए सहयोगी प्रक्रिया आवश्यक होती है, वहीं पर आसहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया का भी कुछ ना कुछ योगदान रहता है। सामाजिक जीवन की पूर्णता के लिए समाज में सहयोगी एवं असहयोगी दोनों ही प्रक्रिया आवश्यक है। इन्हीं की

सहायता से व्यक्ति सहयोग के वास्तविक मूल्य को समझ पाते हैं। प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा प्रतिकूलता आदि असहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रिया के स्वरूप हैं।

1. **प्रतिस्पर्धा**: नगरीकरण, औद्योगिकीकरण तथा श्रम विभाजन के फल स्वरुप प्रतिस्पर्धा का विकास हुआ है। आधुनिक समाज में यह प्रक्रिया अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है, क्योंकि वस्तुएं सीमित होती जा रही है तथा प्राप्त करने वाले दिनों दिन बढ़ते जा रहे हैं। प्राप्त करने के लिए लोगों के बीच जो भीड़ या क्रियाएं होती है वही प्रतिस्पर्धा के नाम से जाना जाता है। अतः कहा जा सकता है कि सीमित मात्रा वाले उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्न को प्रतिस्पर्धा कहते हैं। प्रतिस्पर्धा में समान उद्देश्य तो होता है परंतु सम्मिलित प्रयत्न नहीं होते हैं। यदि होते भी है तो उसमें स्वार्थ की भावना अधिक होती है।
2. **संघर्षः** संघर्ष उस समय उत्पन्न होता है जब प्रतियोगियों का ध्यान सामान्य उद्देश्य से हटकर व्यक्तियों तथा समूहों पर केंद्रित हो जाता है। संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया है जो समस्त समाजों में पाई जाती है। संघर्ष प्रतिकूलता के पश्चात् आरंभ होता है। स्वार्थपरता बढ़ने से व्यक्ति में संघर्ष एवं सामने वाले व्यक्ति अथवा समूह के साथ हिंसा, आक्रमण, धमकी, विरोध या उत्पीड़न के माध्यम से चोट पहुंचाना आम बात हो जाती है। संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया होती है। संघर्ष किसी ना किसी रूप में सभी समाजों में पाया जाता है। वर्ग संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष, जातीय संघर्ष, धार्मिक संघर्ष, राष्ट्रीय संघर्ष आदि विभिन्न प्रकार के संघर्ष समाज में होते रहते हैं।

इस प्रकार से हम देखे तो सामाजिक प्रक्रिया प्रत्येक समाज में किसी ना किसी रूप में विद्यमान रहती है। सभी समाजों में अंतःक्रिया ही सामाजिक प्रक्रिया को निर्मित करती है। इन अंतःक्रियाओं के पीछे एक अर्थ यह भी होता है कि मित्रों, पारिवारिक सदस्यों, पड़ोसियों, परिचितों के साथ अंतर व्यक्तिगत संबंधों में सहयोग, प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष के विभिन्न

स्वरूपों या प्रकारों को अभिव्यक्त करना, क्योंकि यह सभी स्वरूप सामाजिक अंतर संबंधों में पाए जाते हैं और सामाजिक व्यवस्था एवं संगठन को बनाए रखने के लिए आवश्यक भी है। इस अध्याय में हमने सामाजिक प्रक्रिया के तत्व एवं विशेषताओं तथा प्रकारों पर विस्तार से चर्चा की है। वर्तमान समय में सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकारों तथा तत्वों में कुछ परिवर्तन नजर आ रहे हैं जो हमारी सामाजिक संरचना को भी प्रभावित कर रही है। परंतु यह भी यथार्थ है कि समाज की प्रगति के लिए सभी प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया आवश्यक है।

––==00==––

संदर्भ–ग्रंथ सूची

संदर्भ–ग्रंथ सूची

1. Bottomore, T.B., Sociology : A Guide to problems and literture, London : Allen and unwin, 1969.
2. Johnson, Harry M., Sociology: A systematic Introduction, London: Routledge & Kegan Paul, 1961.
3. Lumley, F. E. Principles of Sociology, New York : MacGraw-Hill Book Compnay, 1935.
4. Berger, Peter, Invitation to Sociology, Doubleday, New york,1963.
5. Bogardus, E.S., Introduction to sociology, Los Angeles: University of southern Califonia Press, 1917.
6. Cooley, C.H., Social Organization, Glencoe: The Free Press, 1962.
7. Davis, Kingsley, Human Society, NewYork : Macmillan Company, 1949.
8. Fairchild, H.P. (ed), Dictionary of Sociology, London:Vision, 1958.
9. Linton, Ralph, The Study of Man, New York, Appleton-Century-Crofts,1964.
10. Ogburn, William F., Social Change, NewYork, Viking 1922.
11. मैकाइवर, आर. एम. एंड पेज, चार्ल्स एच., समाज का परिचयात्मक विश्लेषण, न्यू दिल्ली, मैकमिलन इंडिया लि. 1985.
12. ए., गिडिस, सोशियोलॉजी, दा ब्लैक वेल पब्लिशर्स, कैंब्रिज।
13. कर्बे, इरावती, हिंदु समाजः एन इंटरप्रेटेशन, पुने, डेक्कन कॉलिज, 1968.

14. गिडेंस, एंथोनी,सोशियोलॉजीः चतुर्थ संस्करण, पोलिटी, यू.के., 2001.

15. जॉनसन, हेरी एम., समाजशास्त्र ए सिस्टेमेटिक इन्ट्रोडक्शन, न्यू दिल्ली, ऐलाईड।

16. पार्क, आर.ई. और बर्गेस, ई. डब्लू., (1924) इन्ट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ सोशियोलॉजी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

17. Gillin, J.l~ and Gillin, J.P.k~ An Introduction to Sociolgy, Macmillan, New york, (1948).

18. Maclver, R.M and page, C.H., Society, New Delhi, Macmillan India Limited, (1985).

19. Ogburn, W.Fk and Nimffko, M.F.k Sociology, The Riberside press Cambridge, Houghton Mijjin company, (1958).

20. गिलिन, जे. एल. और गिलिन जे.पी; कल्चरल सोशियोलॉजी, मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 1954.

21. डेविस, के.; ह्यूमन सोसायटी, मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 1960.

22. मैकाइवर, आर.एम. और पेज सी.एच.; सोसायटी, मैकमिलन, लंदन, 1959.

––==00==––

डॉ. अहिल्या तिवारी

शिक्षा	–	बी.ए., एम.ए. (हिन्दी एवं समाजशास्त्र)
		बी.एड., एम.एड., पी. एच-डी. (समाजशास्त्र)
संप्रति	–	पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर के अध्यापक
		शिक्षा संस्थान में सहायक प्राध्यापक पद पर कार्यरत
प्रकाशन	–	पुस्तक – 6 पुस्तक प्रकाशित
		शोधपत्र – 22 शोधपत्र प्रकाशित
		विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर रचनाओं का प्रकाशन
शोध कार्य	–	समाज पर मोबाइल फोन के प्रभाव का अध्ययन
		(शोध प्रबंध)
		14 से अधिक लघुशोध का निर्देशन (लघु शोध प्रबंध)
सम्मान	–	अटल हिन्दी सम्मान, 2020
		(विश्व हिन्दी रचनाकार मंच द्वारा)
		काव्य कर्ममणि सम्मान, 2020
		(श्री नर्मदा प्रकाशन द्वारा)
		अखिल भारतीय कविता सृजन, 2020
		(हिन्दी रक्षक मंच इंदौर द्वारा)
		अखिल भारतीय लघुकथा लेखन, 2020
		(हिन्दी रक्षक मंच इंदौर द्वारा)

Aditi Publication
Opp. New Panchjanya Vidya Mandir, Near Tiranga Chowk,
Kushalpur, Dist.- Raipur-492001, Chhattisgarh
shodhsamagam1@gmail.com, +91 94252 10308

9 789392 568053

₹ 299